उत्तर आधुनिकता: भारतीय राज्य की बदलती भूमिका (समकालीन मतभेद और बदलाव)

बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
(एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय) लखनऊ से
राजनीति विज्ञान विषय में पी-एच०डी० की
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-सारांशिका

BABASAHEB BHIMRAO AMBEDKAR UNIVERSITY
LUCKNOW
प्रज्ञा शील करुणा
ESTABLISHED 1996

शोध निर्देशक

प्रो. शशिकांत पाण्डेय

शोधार्थी

टीका राम

नामांकन सं०–814/18

राजनीति विज्ञान विभाग
सामाजिक विज्ञान हेतु अम्बेडकर अध्ययन विद्यापीठ
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
(एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय) (NAAC A++ ACCREDITED)
विद्या विहार, रायबरेली रोड, लखनऊ (उ०प्र०)

2024

उत्तर आधुनिकताः भारतीय राज्य की बदलती भूमिका

समकालीन मदभेद और बदलाव

अवधारणाः

यदि हम अवधारणा के तौर पर देखें तो आधुनिकता को अवधारणा काफी धुंधली भी दिखाई देती है और आधुनिकता का नाम सुनते ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न ये उठता है की आधुनिकता क्या है? और ये आधुनिकता कैसे उत्तर–आधुनिकता की तरफ दिखाई देती है? और इसी संदर्भ में यदि हम भारतीय राज्य की बदलती भूमिका का सैद्धान्तिकरण करने की कोशिश करें तो हमारे सामने काफी जटिल प्रश्न खड़े दिखाई देते हैं। वयोंकि ये एक बड़ी समस्या है कि बदलती भूमिका को समझा जाये पर यहाँ ये भी जरूरी है, की हम इसे सैद्धान्तिक रूप में डालने का प्रयास करें पर अब यहाँ प्रश्न ये उठता है, कि आखिर इसके सैद्धान्तिकरण की आवश्यकता क्यों है? और इसके लिए हम TERRY EAGLETON को देख सकते हैं, कि "IF ALL HUMAN EXISTENSE IS IN SOME SENSE THEORETICAL] THEN THEORY IS AN ACTIVITY WHICH GOES ON OLL THE TIME" इस प्रकार हमारे लिए भी ये आवश्यक हो जाता है, कि हम उत्तर आधुनिकता और भारतीय राज्य की बदलती भूमिका को सैद्धान्तिकृत करने का प्रयास करें। और इसी प्रयास में हमें कुछ महत्त्वपूर्ण एवं जटिल प्रश्न खड़े होते हुए दिखाई देते हैं, और उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न ये दिखाई देता है, कि हम किस तरह से आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता को सैद्धान्तिक रूप से समझने का प्रयास करें।

इसी संदर्भ में यदि हम आधुनिकता से जुड़े सैद्धान्तिक प्रश्नों को देखें तो इसमें इमाईल दूर्खीम, कार्ल मार्क्स और मेक्स वेवर जैसे विचारक महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं और इस आधुनिकता को समझने में हम ज्ञानोदय की पृष्ठभूमि का भी सहारा ले सकते हैं, और इसी संदर्भ में आधुनिकता को प्रक्रियाओं को बढ़ावा देने वाले कुछ कारणों को भी पहचान सकते हैं जैसेः– मुनाफाखोरी की विचारधारा का बढ़ता प्रभाव राजनीतिक क्रान्तियाँ और पूंजीवादी संस्कृति के विरोध में समाजवाद दो उद्भव को भी देख सकते हैं, पर यहीं 1989 में फ्रांसिस फुकुयामा द्वारा उदारवादी विचारधारा की

विजय एक नया और दिलचस्प मोड़ ले लेती है, वहीं यदि हम अर्थ के रुप में उत्तर–आधुनिकता को समझाने का प्रयास करें, तो पता चलता है कि इसके आदमी को लेकर कोई सर्वमान्य परिभाष नहीं है, विभिन्न विचारकों ने इसे अपने–अपने तरीके से बताने का प्रयास किया है, यहाँ इसे एंथनी गिडंस संरचनाकरण का उपयोग करते हुए ये बताने की कोशिश है, की आधुनिकता एक तरह का जगर्नाट पर यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है, कि ये आधुनिकता को पूंजीवाद और उदारवाद दोनों के साथ नहीं जोड़ते और यहाँ इसीलिए संस्थाओं के साथ जोड़ते हैं। जिसमें माल का उत्पादन, निजीकरण, उद्योगवाद और निगरानी रखने की क्षमता और साथ ही राष्ट्र राज्य महत्त्वपूर्ण हैं, और ये अपनी बात को The consequences Modernity 1990 में बताते हैं।

जहाँ इन्होंने बताया है, कि आज समय और स्थान सिकुड़ गये हैं, और प्रतिबिंब की दुनिया बढ़ रही है, जिस कारण लोग समुदाय से अलग हो जाते हैं, और वहीं यदि हम शास्त्रीय विचारक के तौर पर इमाईल दुर्खीम को देखने का प्रयास करें तो ये आधुनिकता को जैविक प्रक्रिया से जोड़ते हैं, ये कहते हैं कि यांत्रिक समाज जैविक समाज में परिवर्तित होता है, और इसके लिए सबसे पहले सामूहिक चेतना आती है, और फिर समझौता होता है, और फिर स्तरीकरण तेजी से बढ़ता है।

और वहीं कार्ल मादर्स आधुनिकता को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ते हुए बताते हैं कि इंसान यहाँ पर एक मशीन का पुर्जा बनकर रह जाता है। जहाँ वो अलगाव का शिकार हो जाता है, और वहीं शास्त्रीय विचारक मेक्सवेबर इस आधुनिकता को तार्किकता के साथ जोड़ते हैं, इस प्रकार जब हम शास्त्रीय विचारकों को देखते हैं, तो आधुनिकता जहाँ दूर्खीम के लिए स्तरीकरण है, वहीं मावर्स के लिए ये पूंजीवाद है, और मेक्सवेबर के लिए ये तार्किकता है, और वहीं यहद हम जार्ज सिमेल जैसे विचारक को देखें तो हम इसे आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता दोनों में रख सकते हैं, क्योंकि यहाँ पर ये शहर और मुद्रा की बात करते हैं. जहाँ शहर में आधुनिकता शहर में निवास करती है, और मुद्रा इसे फैलाती है। और यहाँ आधुनिकता का विस्तार शहर है, वही उलरिच बैक आधुनिकता को जोखिम समाज के साथ जोड़ते हैं और जहां ये आधुनिकता द्वारा प्रकृति का राजनीतिकरण किया जा रहा है, पर वहीं जार्ज रिटजर ने वेवर की तार्किकता को दुबारा से विकसित करते हुए आधुनिकता को विकसित विवेक माना है, पर वहीं दूसरी और झिगमन्ट वांमेन वेक्सबेवर की तार्किकता की आलोचना करता हुआ आधुनिकता का एक विधवंस कारी मॉडल देते हैं। और इस प्रकार यहद हम आधुनिकता के संदर्भ में विभिन्न सिद्धान्तों को देखने की कोशिश करें तो आज ये सि़द्धांत काफी नये मोड़ ले चुका है। और इन मोड़ में सबसे महत्वपूर्ण है, उत्तर–आधुनिकता जिसमें वस्तुपरक सिद्धान्त की जगह आत्मपरक सिद्धान्त ने ले लिया है। जिसमें जीन बोडिलार्ड का आधुनिक समाज में उग्र टूटन है, का विचार काफी महत्वपूर्ण है, जिसमें यहाँ ये माससमिडिया समाज उपभोक्ता समाज सिमूलेशन और उपभोक्तावाद पर बल दिया है, और वहीं मिशेल फूको शक्ति ज्ञान और विमर्श के संदर्भ में उत्तर–आधुनिकता कि विवेचना करने का प्रयास करते हैं तो यहीं लोतार कहते हैं, कि महान वृतान्त मर चुके हैं, और यहाँ महान वृतान्तोंपर भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि ये मूल्यों से पीड़ित हैं, और वहीं डेरिडा जैसे विचारक उत्तर आधुनिकता को विखंडन को प्रक्रिया के साथ जोड़ते हैं, पर वहीं फेड्रिक जेमेशन आधुनिकता में पूंजीवाद को संस्कृति के संदर्भ में समझने का प्रयास करते हैं। पर वहीं जर्गन हैबरमास जैसे भी विचारक हैं, जो उत्तर आधुनिकता की आलोचना तो करते हैं, पर वहीं पूरी तरीके से आधुनिकता का समर्थन नहीं करते इसीलिए आधुनिकता को संशोधित करके लागू करने का प्रयास करते हैं। इसीलिए ये आधुनिकता को एक अधूरा प्रोजेक्ट मानते हैं, इसी संदर्भ में यदि हम भारतीय राज्य की बदलती भूमिका को देखने का प्रयास करें, तो कई विचारकों के अनुसार माना जा सकता है, कि भारत में आधुनिकता कई मामलों में ब्रिटिश राज्य के साथ आई पर जब हम आजादी के बाद भारतीय राज्य की बदलती हुई भूमिका पर नजर डालते हैं, तो पता चलता है, की भारत ने निरंतर अपनी भूमिका को दिशा देने का प्रयास किया है, और जब भारत आजाद हुआ था तब एक मजबूत राज्य की आवश्यकता पड़ी जिसको मजबूत राज्य ने पूरा करने की कोशिश करी और इसको करने के लिए राज्य ने विभिन्न प्रकार से अपनी शक्तियों को भी बढ़ाया और इसी प्रकार भारतीय राज्य कभी तो रूडोल्फ और रूडोल्फ की तरह मांग राजनीति और आदेश राजनीति की भूमिका में परिभाषित किया गया तो वहीं अतुल कोहली ने इसे विकास के साथ जोड़ा विकास और राजनीति के साथ जोड़ा इस प्रकार यदि हम देखें तो भारतीय राज्य ने विभिन्न संदर्भों में अपनी भूमिका को लगातार परिष्कृत करने का प्रयास किया है। और वहीं समस्या यह है कि जब हम इस भारतीय राज्य को उत्तर–आधुनिकता के संदर्भ में देखने की कोशिश करें, तो पता चलता है, कि आज राज्य की भूमिका कई मामलों में अधिक परिष्कृत हुई है तो कई मामलों में राज्य की भूमिका कम भी हुई है।

संदर्भ (Biblography):

1. Gupta, Dipanker, Mistaken, Modernity, Harpr Collins. New Delhi, 2000

2. Stuart Hall, David Held and Tony McGraw.

[Eds], Modernity and its future, Blackwell publication. Oxford 1992

3. Hall, stuart, [Ed] Marxism Today

4. Mike Gane and Terry Johnson [Eds], Foucault, New Domain Routledge, London, 1993

5. Dash, Sudarshan, Modernism Versus Post Modernism Rajat Publication.

6. Austin, Granville, 2004, The Indian Constitution: The cornerstone of a nation, OUP, New Delhi.

7. Kohli, Atul, 1991, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Govern ability, Cambridge, University, UK

8. Rudolph L.I, and S.H. Rudolph, 1987, In pursuit of Lakshmi, University of Chicago Pess, Chicago.

भारतीय राज्य का आर्विभावः लाइसेंस राज तक

विचारकों के मध्य राज्य की भूमिका, राजनीतिक असहमति का शायद सबसे अधिक प्रभावशाली विषय रहा है, जोकि राज्य, समाज और व्यक्तिविशेष के मध्य उचित संबंध के बारे में भिन्न दृष्टिकोण दर्शाता है। अतिवादियों को . छोड़कर, जहाँ सभी राजनीतिक विचारकों ने राज्य को एक लाभकारी अथवा आवश्यक संस्था के रूप में सराहा है, वहीं वे राज्य की समाज में निभाए जाने वाली भूमिका को लेकर गंभीर मतभेद रखते हैं। इस चर्चा के चरमोत्कर्ष में प्रतिष्ठित उदारवादियोंने तर्क दिया कि व्यक्तिविशेष को अधिकाधिक संभव आजादी होनी चाहिए, और इस बात पर भी जोर दिया कि राज्य को एक निम्नतम भूमिका में सीमित रहना चाहिए। यह न्यूनतम भूमिका यहाँ तक सीमित होनी चाहिए कि वह शान्ति और सामाजिक व्यवस्था का एक ढाँचा प्रदान करे, जिसमें नागरिक जिस तरह से चाहें अपना जीवन व्यतीत कर सकें। इस प्रकार के न्यूनतम राज्य 19वीं शताब्दी में आम थे, और वहाँ संस्थागत उपस्कर (Apparatus), केवल पुलिस बल, न्याय तन्त्र और सेना तक सीमित थे। 20वीं शताब्दी में इस प्रकार के राज्य दुर्लभ हो गए, और वाद–विवाद चर्चा के अन्त में राज्य की भूमिका के विस्तार के बारे में प्रभावकारी झुकाव उत्पन्न हुआ। उत्तरोत्तर यह आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा के लिए निर्वाचकों के दबाव के रूप में प्रकट हुआ, जिसे लोकतांत्रिक सामाजवादियों, आधुनिक उदारवादी और पैतृकवादी रूढ़िवादियों के एक विस्तृत वैचारिक गठबंधन द्वारा समर्थन प्रदान था।

भारतीय समाज ने भारतीय सस्कृति और राज्य की परपरागत धारणा में आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के विचार के लिए स्थान बनाने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया के दौरान इस बिंदु पर दृष्टि न जा सकी कि बाहर से लाई गई राज्य की अवधारणा अन्ततः देशी अवधारणा को पूर्ण रूप से परिधि पर ला खड़ा कर देगी और स्वय प्रमुख अवधारणा (Hegemonic Concept) बन जाएगी। इस प्रक्रिया को शाही राज्य की संरचना के औपनिवेशिक विरासत से सहायता मिली, जिसने राज्य के शेष भारतीय समाज से संबंध को मुख्य आकार दिया। इस विरासत का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा राज्य की वह अवधारणा है, जहाँ राज्य को एक शक्ति स्थापित करने वाला, समाज का संरक्षक, एक नैतिक उदाहरण और विरोधात्मक हित वाले सामाजिक समूहों के मध्य एक पंच की भूमिका निभाने वाला माना गया। कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रवादी आन्दोलन ने औपनिवेशिक राजनीतिक विरासत को एक ऐसे शक्तिशाली राज्य में परिवर्तित करने की माँग की, जिसका उद्देश्य आर्थिक प्रगति को बढ़ाना और एक न्यायपूर्ण, सामाजिक, नागरिक समाज को, जोकि गरीबी हटाने में समर्थ हो, स्थापित करना हो।

संसार के एक सर्वाधिक अनूठे और लंबे समय तक चलने वाले राजनीतिक स्वाधीनता के लिए संघर्ष के बाद, सन् 1947 में भारतीय संवैधानिक राज्य का उद्‌भव हुआ। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी श्रेष्ठजन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक सदस्यों पर पूर्णतः पाश्चात्य प्रभाव था। कांग्रेस दल ने एक राष्ट्रवादी, राज्य केन्द्रित और धर्मनिरपेक्ष विचारधारा को विकसित किया। इसका समाजवाद में परिवर्तन वस्तुतः इसका सत्ता प्राप्ति के सहगामी के रूप में हुआ। इस रूपांतरण ने कांग्रेस दल को राज्य की आवश्यकता के अनुरूप स्वयं को ढालने का रास्ता दिखाया । इसने एक शक्तिशाली राज्य के निर्माण को प्रेरित किया, जिसका सुस्पष्ट उद्देश्य था परपरागत व्यवस्था से पान पाना, जोकि क्षेत्रीय और सामाजिक रूप विभाजित थी।

नये राज्य ने परंपरागत भारतीय मूल्यों और संस्थाओं से एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान दर्शाया। 1950 में संविधान को अंगीकार किया गया, और इसने भारत को एक धर्मनिरपेक्ष संसदीय लोकतंत्र में बदल दिया, जहाँ एक द्विसदनीय संसद, एक बहुदलीय व्यवस्था, एक परोक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति, एक स्वतंत्र न्यायपालिका और केन्द्र व राज्यों के बीच शक्ति व जिम्मेदारियों के आंशिक बँटवारा लिए संघीय संरचना है (देखेंः ऑस्टिन Austin, 2004) राज्य का मुख्य उद्देश्य एक व्यापक न्याय, समानता और व्यक्ति विशेष का सम्मान था। इसकी जड़ें भारत की जनता में हैं, जोकि इसकी वैधता का अंतिम स्रोत है। इसने भारत की जनता को कुछ विकृत और यहाँ तक कि संसद द्वारा भी रद्द मूलभूत अधिकार दिये, जिनको नहीं किया जा सकता है। यद्यपि ये अधिकार राष्ट्रीय सुरक्षा और जन कल्याण से बंधे हैं, संविधान में राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों को भी शामिल किया गया है, जिनके अंतर्गत राज्य के उद्देश्य रहे हैं, ये हैंः जनसाधारण के कल्याण के लिए एक सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित करना, सभी नागरिकों के लिए करना, समुदाय के संसाधनों का सबके भले आजीविका के साधन सुनिश्चित के लिए उपयोग करना, धन के हानिकारक संकेन्द्रण को रोकना, स्त्री और पुरुष के लिए समान कार्य समान वेतन सुनिश्चित करना, तथा बच्चों और युवकों को शोषण से बचाना।

संघीय व्यवस्था को अपनाकर सविधान ने उन विषयों का सीमाकन किया, जिन पर केन्द्र सरकार द्वारा, राज्य सरकारों द्वारा और दोनों के द्वारा कानून बनाया जा सकता है। रक्षा, विदेश मामले, अन्तर राज्य संचार, व्यापार और वाणिज्य, मुद्रा, बैकिंग, उद्योगों का नियंत्रण इत्यादि को केन्द्रीय सरकार के लिए आरक्षित किया गया है। नागरिक व्यवस्था, पुलिस, जन स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, व्यवसाय इत्यादि राज्य सरकारों के लिए आरक्षित है। शादी और तलाक, गैरकृषि भूमि का स्थानान्तरण, ठेके, नागरिक और आपराधिक प्रक्रिया, एकाधिकार, कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, मूल्य नियंत्रण, कारखाने, विद्युत और खाद्य में मिलावट आदि विषय समवर्ती सूची में शामिल किए गए हैं। इन विषयों पर राज्यों को कानून बनाने का अधिकार है, लेकिन संसद द्वारा बनाये गए कानून का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। संविधान ने केन्द्र और राज्यों के बीच राज्यय उगाही के तरीकों की भी सीमा निर्धारित की है। केन्द्रीय सरकार निगम और आय कर, पूँजीलाभ कर, सीमाशुल्क और आबकारी कर, सिक्का ढलाई, मुद्रा, विदेशी मुद्रा, विनियम, प्रतिभूति विनिमय पर कर आदि द्वारा अपना राज्यव उगाह या उत्पन्न कर सकती है। राज्य सरकारें अपना राज्यव भूमि कर, कृषि आय कर, विद्युत और पानी दर, वाहनों पर कर, व्यापार कर, सेवाओं, भूमि और सम्पत्ति कर, बिक्री कर, मनोरंजन कर आदि द्वारा उगाह सकती है। इसके अलावा गरीब अथवा अल्प विकसित राज्यों को केन्द्र द्वारा अनुदान देने की व्यवस्था भी संविधान में शामिल है (ऑस्टिन, 2004, op.cit.)

आजादी के बाद के विशिष्टजनों ने भी कुछ निश्चित मूल्य तथा उद्देश्य निर्धारित किए थे। भारत में मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीय एकीकरण, आर्थिक श्प्रगति, सामाजिक समानता और राजनैतिक लोकतन्त्र थे। यह सभी लक्ष्य एक केन्द्रीकृत नौकरशाही राज्य के माध्यम से, जैसा कि नेहरू बनाना चाहते थे, प्राप्त किए जा सकते थे। राज्य ने परमाणु बिजली घर, वृहद बाँध और बड़े स्टील कारखाने बनाने का बीड़ा उठाया। भारतीय समाज में वर्ग संबंधों और राज्य संरचना में शक्ति संबंधों के

माध्यम से सामंजस्य बनाने पर जोर दिया गया, जिसने एक शक्तिशाली सजातीय राज्य संरचना को रूप दिया और चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया, और तब अंततः सहमति की नीति द्वारा भाषायी और क्षेत्रीय तनाव/समस्याओं को राज्य द्वारा सुलझाया गया। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के प्रतिष्ठित नेताओं ने जो माँगा, उसे एक हद तक पाने में सफल हुए. और पूर्व सहमति तथा भारतीय, क्षेत्रीय, भाषायी, जातिगत व धार्मिक भिन्नताओं का महिमामण्डन (Glorification) करके एक सशक्त राज्य का निर्माण किया।

एक शक्तिशाली राज्य की एकीकृत और वैध अवधारणा को प्रोत्साहित करने के इस प्रयास ने प्रतिष्ठित विशिष्ट वर्ग द्वारा वैध शारीरिक हिंसा पर अपना एकाधिकार करने का मार्ग प्रशस्त किया (बट्रेण्ड–Bertrand, 2000)। इसी प्रकार समाजवादी उदाहरण ने समानतावादी सिद्धांतों को प्रोत्साहित किया, जो भारतवर्ष के एक राज्य के निर्माण के संदर्भ में शासक राजनीतिक प्रतिष्ठित वर्ग के लिए एक प्रमुख विशेषता बन्नी । विभिन्न जातियों से युक्त और गंभीर क्षेत्रीय विभिन्नताओं वाले समाज में से असमानताओं को समाप्त करने की प्रक्रिया ने आपस में संघर्षरत पारंपरिक प्रतिष्ठित वर्ग के संसाधनों को कम करने का अवसर प्रदान किया, और इस प्रकार राजनीतिक कार्यक्षेत्र को शक्ति प्रदर्शन के लिए एक विशिष्ट स्थान बनाया। इससे भी अधिक समाजवादी विचारधारा ने राज्य के नये विशिष्ट वर्ग को समाज और अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के साधन प्रस्तुत किए। योजना आयोग की स्थापना (1950), पंचवर्षीय योजनाओं का आविर्भाव (1951), राष्ट्रीय विकास परिषद् (1952), उद्योग विकास नियंत्रण अधिनियम (1951), इत्यादि इस दिशा में उल्लेखनीय कदम थे (चटर्जी–Chatterjee, 1997)।

आधुनिक राज्य का विकास

आधुनिक राज्य समाज के अन्य सभी आदेशित प्रक्रियाओं को विस्थापित करने को प्रवृत्त रहता है, और अनिवार्य नियमों का एकमात्र स्रोत बनता है। जब आधुनिक राज्य का यूरोप में प्रादुर्भाव हुआ, तब उसकी अवधारणा बहुत सीमित थी, और इसलिए वह सामाजिक निर्माण या अभियंत्रिकीकरण में व्यवस्थित रूप से सहभागी नहीं रह सका। भारत में औपनिवेशिक राज्य आधुनिक राज्य का प्रथम रूप था, और इसने स्वामित्व की उपाधि धारण की। परंतु ब्रिटिश भारत के समाज और राज्य के संबंध को लेकर इसकी स्थिति अस्पष्ट थी। मुख्य रूप से, राज्य की अनुक्रिया एक विदेशी समाज के मामलों – में दखल की स्थिति और इसके विपरीत एक क्रियाशील सुधारवाद के साथ झूलती रही, लेकिन इसने जातिगत समाज की संरचना में सीधी दखलंदाजी नहीं की। यद्यपि स्वतंत्रता के पश्चात् का भारतीय राज्य इस समान दूरी की प्रवृत्ति को नहीं बनाए रख सका। भारतीय राज्य सामाजिक सुधार के लिए वचनबद्ध था, जैसा कि स्वयं संविधान ने समाज निर्माण के कई कार्यक्रम प्रस्तुत किये, और इनको राज्य को सौंपा, जोकि इनके कार्यान्वयन का मुख्य

साधन था। इसलिए राज्य ने गंभीर विधि निर्माण किये, जिसने समाज के पिछड़े समुदायों की भलाई के लिए सकारात्मक भेदभाव प्रस्तुत किए, और उनको राज्य में रोजगार और शिक्षा में सापेक्ष रूप से लाभ प्रदान किया। इसने एक अत्यधिक हस्तक्षेप करने वाले राज्य को आगे बढ़ाया (कोहली–Kohli, 1977)।

भूतकाल से विशेष निरन्तरता बनाए रखने के बावजूद सरकारी ढाँचों ने, जोकि ब्रिटिश शासन के बाद स्थापित किये गए थे, राज्य के भीतर और राज्य व समाज के बीच जटिलता को जन्म दिया। जैसे कि, भारतीय राज्य की अखिल भारतीय सेवाएँ ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य की मुख्य संस्थागत संपत्ति थी, फिर भी वह एक मुख्य साधन बना, जिसने आने वाले नौकरशाही और प्रबंधकीय राज्य की नींव रखी। इस राज्य के कार्य, शक्तियाँ और कर्मचारी वर्ग 1980 के दशक तक अकल्पित रूप से बढ़े, जब भारत ने योजनागत आर्थिक प्रगति की नीति पर जोर दिया। सार्वजनिक क्षेत्र के नौकरशाह अपने ही स्तर के वृहद् निजी औद्योगिक घरानों के अफसरों से कहीं अधिक प्रभावशाली थे, क्योंकि वे संगठित

औद्योगिक क्षेत्र में अर्थव्यवस्था का प्रबंधन कर रहें थे, और एक विकट नियंत्रण संबंधी उपकरण का संचालन कर रहे थे, यह नियंत्रण उपकरण निजी उद्यमों को विस्तार और अभिपत्र (लाइसेन्स) देने, पूँजीगत समान के आयात निर्यात, विदेशी मुद्रा विनिमय का निर्धारण, और पूँजी उगाही के मार्ग प्रशासन से संबंधित है (फेंकेल–Frankel, 1987)।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि राज्य, अर्थव्यवस्था का प्रबंध करने के लिए असंगत रूप से भूमिका निभाने लगा। भारतीय राज्य केवल एक बड़े नियोक्ता के रूप में ही नहीं उभरा, वरन् इसने अंतर्राष्ट्रीय, ऋण और विदेशी पूँजी निवेश के प्रबंधन में भी मुख्य भूमिका निभाई। राज्य पूँजी का मुख्य स्रोत एक बन गया और उसने इस पूँजी के उपयोग को नियंत्रित किया। राज्य द्वारा इन जिम्मेदारियों को निभाने में सहायता करने के लिए एक वृहद राज्य ढाँचे को विकसित करना था। सार्वजनिक क्षेत्र का प्रबंधन, ऊर्जा आपूर्ति व परिवहन; वाणिज्यिक वित्तीय लेन–देन के लिए एक कानूनी ढाँचा बनानाय निवेशकों के मध्य विश्वास बढ़ाने के लिए राजनीतिक स्थायित्व को बनाए रखना– ये सभी राज्य की जिम्मेदारियाँ थीं। यह आधुनिक राज्य प्रतिरोधी अभिकरण के एकाधिकार के वेबेरियन सिद्धांत का रूप है, जिसने सामाजिक वर्गों के मध्य संदेश दिया कि वे एक–दूसरे के लिए माँगों को राज्य की एजेन्सियों द्वारा आगे बढ़ाएँ। परिणामस्वरूप, सामाजिक वर्गों द्वारा अपनी माँगों को प्रस्तुत करने में भारी वृद्धि हुई। रूडोल्फ बंधुओं ने इसका विश्लेषण 'माँग' और 'आदेश' (Demand and Command) राजनीति के बीच विभेद को प्रकाशित करके दिया (रूडोल्फ और रूडोल्फ– Rudolph and Rudolph, 1997)।

रूडोल्फ के अनुसार, माँग की राज्यव्यवस्था (Demand Polity) अल्पकालीन उद्देश्यों, नीतियों और जनसाधारण के हितों को सुनिश्चित करने वाले प्रतियोगी प्रक्रमों और निजी सामान की व्यवस्था करने की ओर उन्मुख रहती है। यह माँग की नीति सीमित रहती है और निर्वाचनीय अभिनिर्णय औरसंगठित हित व वर्गों, राजनीतिक दलों, सामाजिक आंदोलन व आंदोलनकारी राजनीति द्वारा निर्देशित व सीमित होती है। यह वृद्धिकारी नीति की प्राथमिकता की 'तर्कसंगतता' की ओर भी झुकी होती है। वहीं दूसरी ओर, 'आदेश' की राज्यव्यवस्था राज्य निर्धारित दीर्घकालीन उद्देश्यों और जनता के हितों के निर्माण व सार्वजनिक तथा सामूहिक सामान की व्यवस्था की ओर झुकी होती है। राजनीतिक नेताओं व नौकरशाहों की प्राथमिकता निवेश संबंधित क्षेत्र व नीति विकल्प को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। वे आर्थिक वर्गों, संगठित हितों व उत्कृष्ट वर्गों की तरफदारी, नियंत्रण, अनुज्ञा अथवा सहयोजन करते हैं। आदेश की राज्यव्यवस्था में राज्य की भूमिका उसी प्रकार की होती है, जिस प्रकार एकाधिकार रखने वाले उत्पादक की होती है, जोकि यह निर्धारित कर सकता है, कि क्या और कितना उत्पादित किया जाए, क्योंकि वे अपने निवेश संबंधी निर्णयों के अनुसार निवेश को नियंत्रित कर सकते हैं और उपभोक्ताओं की वरीयताओं को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार रूडोल्फ व रूडोल्फ ने भारतीय स्वतंत्रता के बाद से चार कालों की पहचान की, जिन्हें उन्होंने दो चरणों में वर्गीकृत किया आदेशात्मुक राज्यव्यवस्था (1956–66 और 1975–77) तथा माँग की व्यवस्था (1966–75 और 1977–1980)।

अधिकांश उत्तर–औपनिवेशिक समाजों की तरह भारत को भी एक विकृत राज्यव्यवस्था विरासत में मिली, जहाँ एक अतिविकसित नौकरशाह राज्यव्यवस्था, नौकरशाही, सेना और पुलिस जेसे अतिविकसित संस्थानों में दिखाई देती है। औपनिवेशिक सरकार का एक सार्वभौमिक लक्षण यह था कि इसने नौकरशाही को विकसित किया और विधायिका, दलों, स्थानीय सभाओं व अन्य निकायों, जोकि नियंत्रण रखने व जवाबदेही में समर्थ थे, को नजरअंदाज किया। यद्यपि भारतीय उपमहाद्वीप की इस बात में प्रशंसा की जाती है कि यहाँ लोकतांत्रिक विकास का सबसे बड़ा इतिहास है, परन्तु फिर भी यहाँ नौकरशाही को अतिविकसित रूप में देखा जा सकता है (रिमथ–Smith, 1996)। नौकरशाही शक्ति, सम्मान और रूतबे से जुड़ी हुई थी, और इसका उस ज्ञान पर एकाधिकार था, जोकि सरकार को चलाने और एक समाज को विकसित करने के लिए आवश्यक था। यह उच्चशिक्षित व पेशेवर लोगों के रोजगार का मुख्य स्रोत था।

स्वतंत्र भारत में सरकारी प्रशासनिक ढाँचा आधारभूत रूप से औपनिवेशिक शासक से ही लिया गया, हाँलाकि वह कुछ ही समय में बढ़ता चला गया। इसमें शामिल थे कुछ उच्च अधिकारी, जोकि अखिल भारतीय सेवाओं का हिस्सा थे, और बड़े पैमाने पर भारतीय सिविल सेवाओं की श्रेणी में आते थे। भारतीय सिविल सेवाओं के भारतीय सदस्य, जिन्हें कि 'स्टील फ्रेम' (Steel & Frame) का दर्जा दिया गया था. स्वतंत्रता के बाद, 'भारतीय प्रशासनिक सेवाओं' के नवीन रूप में उभरकर सामने आई, जिसका गठन 1947 के बाद क्रिया गया। सरकारी ढाँचे की निर्णायक इकाई जिला प्रशासन थी, जोकि जिला अधिकार के साथ–साथ सरकार के लिए, औपनिवेशिक समय से शासन एवं कानून व्यवस्था बनाए रखने की मुख्य जिम्मेदारी थी, परन्तु साथ ही वह विकासात्मक कार्यों की मुख्य इकाई भी बन गई थी।

भारतीय राज्य की भूमिका

भारत द्वारा अपनाया गया प्रशासन का संरचनात्मक एवं कार्यात्मक तरीका, ओपनिवेशिक विचारों और विचारधाराओं से प्रभावित था। भारतीय राज्य, स्वतंत्रता के तुरंत बाद, नए प्रशासनिक ढ़ाँचे और संसद, प्रधानमंत्री और केबिनेट से निकलकर सर्वोच्च न्यायालय, चुनाव आयोग और राष्ट्रपति के पास आ गया। भारत की केन्द्रीय सरकार ने संविधान का पुनः विश्लेषण करने के लिए एक राष्ट्रीय आयोग को मंजूरी दी, जोकि बहुत पुरानी बात नहीं है। आयोग ने कई तरह के सुझाव पारित किए हैं, जोकि कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायालय से संबंधित है। हम इन पर चर्चा इस पाठ्यक्रम की 18वीं इकाई में करेंगे। अभी हम भारतीय राज्य के समक्ष अवस्थित कुछ मुद्दों पर दृष्टि डालेंगे।

भारतीय राज्य के समक्ष मुद्दे

पिछले 50 वर्षों के दौरान भारत में राज्य, लोकतांत्रिक रूपांतरण के लिए, संघर्ष का गवाह रहा है, इससे भारतीय जनता में लोकतंत्र के प्रति जागरूकता में वृद्धि हुई, और लोकतांत्रिक क्रांति के संबंध में विस्तृत समझ में इजाफा हुआ। विविध वर्गों ने स्वयत्तता और दृढ़ उद्देश्य को खोजा तथा अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आश्वासन की माँग की। दलित आदिवासी, गरीब किसान, श्रमिक और महिलाओं में लोकतांत्रिक अधिकारों और उनकी क्रियात्मक क्षमताओं के बारे में अभूतपूर्व जागरूकता आई। चुनौती की प्रबल भावना ने राज्य को हिला दिया, ओर इसने इस स्थिति से निपटने के लिए कई उपायों जैसे– उदारीकरण, वैश्वीकरण, धार्मिक गतिशीलता और सत्तावादी दमन का सहारा लिया।

नई शताब्दी में जो मुद्दे भारतीय राज्य के सम्मुख होंगे, वे कहीं अधिक जटिलता और कृत्रिमता लिए होंगे, जिनको नये तकनीकी युग की जरूरतों द्वारा निपटाना पड़ेगा। उपग्रह प्रसारण और इंटरनेट (Internet) जैसी नई तकनीक द्वारा प्रस्तुत नयी चुनौतियाँ सामने होंगी। विश्व व्यापार संगठन अथवा वैश्विक वातावरण वार्ताओं के सामने जटिल अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं निवेश संबंधी मुद्दे विद्यमान हैं। इन मुद्दों को सुलझाने के लिए जिस विश्लेषण व समझ की आवश्यकता है, वह हमारे लोक वार्ताओं में शायद ही उपस्थित हैं।

भारतीय राज्य के सामने समस्या यह है कि इसको नये तकनीकी युग की सभी चुनौतियों का सामना करने को कहा जा रहा है, वह भी उस उत्तर ओपनिवेशिक राज्य के घिसे–पिटे उपकरणों व उपस्करों द्वारा, जाकि राज्यद संग्रह और नियमों के प्रशासन से ज्यादा आगे अभी तक प्रगति नहीं कर सकता है। चुनौती या सामना करने के लिए भारतीय राज्य को कुछ अत्यावश्यक कदम उठाने होंगे, जैसे नौकरशाही को तकनीकीशाही में रूपान्तरित करना, और एक नये कार्य संस्कृति का निर्माण, जोकि अनुक्रियाशील होंय दक्ष हों, और तकनीकी युग की समस्याओं की जटिलता को समझने में सक्षम हों व उनको दीर्घकालीन राष्ट्रीय हित के साँचे में सुलझा सकें (खण्डवाला – Khandwala, 1999)।

विश्व का द्वितीय सबसे बड़ी जनसंख्या वाला देश होने के साथ ही भारतीय राज्य मस्तिष्क की चौंकाने वाली विविधता और निरन्तरता का प्रतिनिधित्व करता है। आकार में, महाद्वीपीय और भौगोलिक भिन्नता लिए यह धर्मों और धार्मिक संप्रदायों, प्रजातियों, भाषायी वर्गों, जातियों, समुदायों और राजनीतिक समूहों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार के तन्त्र अक्सर अत्यधिक वर्गीकृत, 'ढ़ीले रूप से संयोजित' और अव्यवस्था/अराजकता के स्तर तक 'नरम' होते हैं (ऑर्टन और विक– Orton and Weick, 1990)। ये अत्यधिक अशान्त सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण में कार्य करते हैं, जो कभी–कभी कुण्ठा और गुस्से से भरा होता है और भिन्न, परन्तु परस्पर अत्यधिक आश्रित परतों को शामिल किये होता है, वे हैं, 'लोकतांत्रिक लोकप्रिय' और 'नौकरशाही नियंत्रक' (Democratic Populist and Bureaucratic Regulatory), जोकि अक्सर विपरीत उद्देश्यों पर कार्य करते हैं। यद्यपि भारतीय राज्य इस प्रकार की विकराल स्थिति में नहीं है, लेकिन भ्रष्टाचार और इसके राजनीतिक तन्त्र/व्यवस्था का अपराधीकरण, इसकी नौकरशाही का भ्रष्टाचार और अक्षमता इसकी विश्वसनीयता का निरंतर नुकसान कर रहे हैं (खण्डवाला, op.cit.)।

राजनीतिक सामाजवादियों का मानना है कि भारतीय राज्य नाममात्र को ही दिखाई देता है, और जब दृष्टिगत अथवा स्पष्ट होता है, वह प्राध्य निरंकुशता (Oriental Despotism) का एक कमजोर रूप प्रतीत होता है. जिसका उसी प्रकार लुप्त होना तय है, जिस प्रकार अकस्मात इसका उदय हुआ था (ड्रक्स– Dirks, 1997)। वेबर, हेनरी मैने और लुई ड्रमों (Weber, Henry Maine and Louis Domont), ने इस अवधारणा को सुनिश्चित किया, इस विश्वास के साथ कि भारत में राज्य एक अनुघटना थी। मार्क्स ने भारतीय ग्रामीण समुदायों को प्राच्च निरंकुशवाद के दृष्ढ़ आधार के रूप में उल्लेखित किया है। उन्होंने अवलोकन किया कि ''राज्य तो आते और जाते हैं, परन्तु ग्रामीण समुदाय सदा स्थिर रहता है'' (खण्डवाला, op.cit.)। राज्य हमेशा टुकड़ों में अपघटित होता दिखाई देता है, जोकि विभिन्न जातियों और धार्मिक तत्त्वों से बने होते हैं। इस पृष्ठभूमि ने भारत को राष्ट्र और राज्य की खोज करने और एक समाज, जोकि न तो धार्मिक रूप से और न ही मानवीय रूप से संकीर्ण हो, लेकिन कहीं अधिक दुरूह हो, के आधार को ढूँढने की आवश्यकता को जन्म दिया।

भारत के सांस्कारिक परिदृश्य पर आधारित राज्य की समीक्षा, भारत के धर्मनिरपेक्ष आधुनिक राज्य को एकता के नाम पर सार्वभौमिक एवं समांगीकरण जैसी अवधारणाओं पर आधारित करके देखती है। एक विशेष स्थान के तहत राज्य का वहाँ के नागरिकों पर, सामाजिक जगह को बहुलता से भरने का अनुग्रह दिखाता है और इसमे परपरा, धर्म, भाषा जैसे तत्त्व आकर सम्मिलित होते हैं। यह विचार राज्य की कार्यसूची को वंशागत रूप से दमनकारी प्रदर्शित करता है। विकल्पतः, भारत को एक सांस्कृतिक देश के रूप में देखा जाता है, जहाँ पर अनेकता को एक सभ्यतात्मक एकता के रूप में ग्रहण किया गया है, न कि आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के रूप में (कुमार, 1989)। यह तर्क, बहुवादी संस्कृति पर, बहु सांस्कृतिक लोकाचार के आधार पर जोर देता है। आधुनिक राज्य इस बहुवादी परिप्रेक्ष्य और एकता, जोकि भारतीय सांस्कृति में समायी हुई है, को हटाने पर जोर देती है और उसके स्थान पर एकल राजनीतिक सत्ता लाने की बात करती है। इसलिए, राज्य को असहनशीलता और सम्प्रदायवाद का मुख्य कारण बताया जाता है।

राज्य के ''प्रबन्धकीय परिप्रेक्ष्य'' के अध्ययन में, प्रदीप खंडवाला (op.cit.) 24 ने यह पाया है कि भारतीय राज्य की स्थिति एक विरोधाभास पैदा करती है, जोकि एक रूप में तो एक संकट है और दूसरे रूप में विश्व का सबसे प्रभावशाली विकासशील राज्य है, उनके लिए, भारतीय राज्य को एक आपदा के रूप में, उसके नियोजित आर्थिक विकास की असफलता के कारण देखा जाता है, जिसके कारण उसे एक नियमित और कालाबाजार समाप्त करने के लिए विश्व के राज्यों में, आर्थिक स्वतंत्र सूची के अनुसार, सन् 1995 में, 101 में से 86वें स्थान पर रखा था। भारतीय

सरकार द्वारा गठित कई आयोगों ने नौकरशाही के विकारों जैसे कि भ्रष्टाचार, धीमी गति, विशिष्ट वर्गवाद एवं अक्षमता को उजागर किया है।

विकासशील भारतीय राज्य, बढ़ती कठोर आर्थिक असमानताओं गरीवी, राजनीतिक हिंसा और अन्तर्जातीय हिंसा को कम करने में असफल रहे हैं। न्यायिक और कानूनी व्यवस्था अव्यवसस्थित है, आम जनता को अकाल्पनिक देरी का सामना करना पड़ता है, पुलिस–अत्याचार एक आम बात है. और आर्थिक विकास में निरंतरता संदेहास्पद है। इनके कारण शासन के संकट की स्थिति पैदा हुई है। जैसा कि अतुल कोहली (op.cit.) ने व्याख्यायित किया है. ''एक लोकतांत्रिक विकासशील देश सुचारू रूप से शासित किया जा सकता है, अगर वह निरंतर वैधता बनाए रखे, सामाजिक आर्थिक विकास को बढ़ावा दे और बल प्रयोग के बिना शांति व्यवस्था बनाए रखें।'' इस बढ़ती अक्षमता ने भारत को ''शासन की भयंकर परेशानी में लाकर खड़ा कर दिया है''।

इस संकट की गंभीरता और स्वरूप को कई विचारकों, समुदायों और प्रक्रियाओं द्वारा विशलेषित किया गया है। वे इस संकट के अनेक कारण मानते हैं, इसी लिए वे कई अलग प्रकार के नतीजों की बात करते हैं। अगर हम एक वाक्य में परिभाषित करें तो आधुनिक भारतीय राज्य उसके विदेशी उद्‌गामी प्रभाव के कारण संकटग्रस्त हैं, कार्य और कार्यप्रणालियाँ भी आम भारतीय लोगों के साथ सामंजस्य नहीं बैठा पाई, और इसके हल हमें राजनीतिक परिदृश्य से प्रभावित हुए बिना ही ढूँढ़ने होंगे (मदान, 1989 और नन्दी– Madan and Nandy, 1991)।

अन्य प्रकार के तर्क के अनुसार, यह संकट सहभागिता की संकीर्णता के कारण दिखाई देता है, जोकि पाश्चात्य राजनीतिक दलों की पदसोपान उन्मुख संरचना से पुन लागू हुई है (कोठारी Kothari, 1989)। मार्क्सवादी विश्लेषक इसे दृढतापूर्वक उपनिवेशवाद से जोड़ते हैं, और जिसके मतभेद राजनीतिक मतभेदों के रूप में उजागर होते हैं तथा वे भारतीय आधुनिक राज्यों को भी प्रभावित करते है (वनायक, 1990)। अन्य प्रकार के तर्क के अनुसार, इसकी जड़े लोकतांत्रिक समाज की उत्पत्ति के साथ देखी जा सकती है, जोकि लोकतांत्रिक सरकारों के कार्यों को प्रभावित कर रही हैं (कविराज– Kaviraj, 1991)।

उभरते सामाजिक वर्ग और भारतीय राज्यों के बीच बढ़ते शक्ति संघर्ष ने भारतीय राज्यों को कमजोर किया है। किसी भी राजनीतिक दल की सत्ता में बने रहने की अक्षमता ने भारत को एक दलीय शासन के स्थान पर कई मिली–जुली सरकारों को जन्म दिया है। शासन करने वाले वर्ग और भारतीय जनता के बीच प्रतियोगी तथा बढ़ते विरोधाभास ने भारतीय राज्यों को प्रभावित किया है।

ऐसे परिदृश्य में, कई जगह के व्यापक विरोध और क्षेत्रीय विरोधों ने अपने आप को केन्द्र के दबाव का सामना करने और पहाड़ जैसी चुनौती का सामना करने में सक्षम बताया है, यद्यपि पहले भारतीय राज्य को यह ज्ञान नहीं था। हाँलाकि राज्य ने अपने आप को उच्च एवं निचले वर्ण के बीच बढ़ते हुए विरोध के क्षेत्र में प्रभावशाली सिद्ध किया है, परन्तु साथ ही साथ वर्गों या वर्ग के बीच बढ़ती प्रतियोगिता में स्वयं को असक्षम भी दिखाया है (सत्यमूर्थि– Satyamurthy, 1999)।

भारतीय राज्य, धर्म के क्षेत्र में एक दोहरी नीति अपना रहे हैं। भारतीय क्षेत्र में विकसित धर्म (विशेषताः हिन्दू धर्म), के लिए राज्य एक सुधारवादी तत्र की तरह हस्तक्षेप करता है, औरयह अल्पसंख्यक धर्म में एक लाभकारी एवं पीछे हटने वाली संस्था के रूप में कार्य कर रहा है। इसके दो उदाहरण सती रोको अधिनियम और मुस्लिम महिला बिल (Sati Prevention Act and Muslim Women's Bill) है। एक अवर्णित धारणा और एक प्रदीप्त आशा ने इस प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। यह माना जाता है कि राज्य के पास देशीय (Native) धर्मों में हस्तक्षेप करने का नैतिक प्राधिकार है,

व यह हस्तक्षेप उनको स्वीकार भी है। किन्तु यह भी सत्य है कि दोनों ही धारणाएँ तथा अपेक्षाएँ त्रुटिपूर्ण हैं (उम्मन Oommen, 1990)

यद्यपि भारतीय राज्यों की कार्य प्रणाली, स्वाधीनता के बाद लगातार सुधरी है, और यह 20वीं शताब्दी के पहले पचास दशकों से कहीं ज्यादा विकसित है। लोकतांत्रिक परिदृश्य में कार्य करने के साथ, इसने अनेक विकासशील राज्यों को पीछे छोड़ दिया है, ''लोकतंत्र का संगठनात्मक ढाँचा, शासन के विभिन्न चरणों व स्तरों के साथ एक संघीय व्यवस्था, एक स्वतंत्र न्यायपालिका, एक मिश्रित अर्थव्यवस्था, आर्थिक नियोजन जोकि गरीबी निवारण, मानव संसाधन विकास, संगठन के आंतरिक विकास और आर्थिक लचीलेपन को बढ़ावा देता है।'' (खण्डवाला, op.cit.)

सार्वभौमिक संदर्भ में, भारतीय राज्य, आर्थिक योजनाओं का उत्तरदायित्व लेने को तैयार हैं, जोकि वैश्विक व्यापार के नियमों के अनुसार हो, और जिसमे सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण, कर सुधार, पर्यावरणीय और आण्विक (Nuclear) निशस्त्रीकरण संबंधित संधिया भी संम्मिलित हों। न्यूनतम राज्य जैसी अवधारणा के बावजूद भारतीय राज्य अपने आप को पुन. स्थापित क रहा है और सही आकार की नौकरशाही, दृढ सार्वजनिक क्षेत्र, परिधीय दंगों को लाभ, सामाजिक न्याय, मानव अधिकार तथा आर्थिक समानता जैसे बदलत परिदृश्य के मापदण्डों को अपने आप में सम्मिलित कर रहा है।

एक बहुत अधिक गरीब समाज में लोकतांत्रिक रूप से कार्य करते हुए भारतीय राज्य की उपलब्धि अभूतपूर्व है, जैसा कि सुनील खिलनानी (1997) ने कहा है, ''पिछले 50 वर्षों ने राज्य की शक्ति को उभारा है व लोकतांत्र की अवधारणा को सामने लाया है जाति व धर्म व उनको राजनीति में शामिल करने के लोकतंत्र के विचार को जोरदार रूप से प्रदर्शित किया है बहुत ही कम समय में भारत उस समाज से, जिसमें ज्यादातर व्यक्तियों के लिए राज्य दूर की तस्वीर थी, जिसका सीमित उत्तरदायित्व था, तथा जहाँ तक कुछ ही लोगों की पहुँच थी, उस राज्य की ओर अग्रसर हुआ, जहाँ राज्य के उत्तरदायित्व बढ़ गए हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति उस पर अपना प्रभाव व्यक्त करने के संदर्भ में सोच सकता है... जातियों की पुरातन व्यवस्था की ओर लौटना अथवा साम्राज्यिक शासन अकल्पनीय है, समाज में सत्ता का सिद्धांत रूपांतरित हो चुका था।'' पूर्ण लोकतांत्रिक ढाँचा, नागरिक स्वतंत्रता, संघीय संरचना, स्वतंत्र न्यायपालिका, जनता की प्रचुर संगठनात्मक विविधता, नीति, सहकारी, स्वैच्छिक, सहचर्य, संस्थागत और आम गैर–सरकारी पत्रों में भारतीय राज्य की शक्ति समाहित है, जोकि समय के परीक्षणों पर न केवल खरी उतरी है, बल्कि अतीत के साथ तारतम्य भी प्रदान करती है और भविष्य को नया जीवन प्रदान करने के लिए एक ठोस मंच प्रस्तुत करती है समकालीन संदर्भ में, भारतीय राज्य पर वैश्वीकरण के प्रभाव का महत्वपूर्ण स्थान है। इस इकाई में हमने इनमें से कुछ विशेष मुददों पर चर्चा की है।

जिसे हम सुनिल खिलनानी के द्वारा समझ सकते हैं जिससे यह पता चलता है कि एक बहुत गरीब समाज में लोकतांत्रिक रूप से कार्य करते हुए भारतीय राज्य की उपलब्धि अभुतपूर्व रही है जैसा कि सुनिल खिलनानी ने कहा है ''पिछले 50 वर्षों में भारतीय राज्य की शक्ति को उभारा है व लोकतंत्र की अवधारणा को सामने लाया है...'' जाति व धर्म व उनको राजनीति में शामिल करने के लोकतंत्र के विचार को जोरदार रूप से प्रदर्शित किया है और बहुत ही कम समय में भारत उस समाज से जिसमें ज्यादातर व्यक्तियों के लिए राज्य दूर की तस्वीर थी जिसका सिमित उत्तरदायित्व था तथा जहाँ तक कुछ ही लोगों की पहुँच थी। उस राज्य की और अग्रसर हुआ जहाँ राज्य के उत्तरदायित्व बढ़ गये है। और प्रत्येक व्यक्ति उस पर अपना प्रभाव व्यक्त करने के संदर्भ में सोच सकता है.... जातियों के प्ररातन व्यवस्था की ओर लोटना आकल्पनीय है क्योंकि समाज और सत्ता का सिद्धान्त रूपान्तरीत हो चुका है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में राज्य

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत में राज्य का गतिमार्ग, बाजार एवं सामाजिक आन्दोलनों से उसके संबंध को समझने के उद्देश्य से दो चरणों में बाँटा जा सकता है। ये हैं– 'नब्बे के दशक और 'नब्बे के दशकोत्तर के चरण, उदारीकरण के वर्तमान स्वरूप से पहले का दौर और उसका समाप्ती दौर। इस प्रकार का सीमांकन उनके बीच संबंध को समझने में मददगार होगा, खासकर इसलिए कि राज्य और बाजार की तुलनात्मक कमजोरी, शक्ति, प्रासंगिकता अथवा अप्रासंगिकता विषयक मुद्दा उदारीकरण के नए दौर के आगमन के साथ ही अधिक प्रभावशाली हो गया है, अथवा 'सत्तर के दशक से। 'नब्बे के दशक–पूर्व चरण को और भी उपविभाजित किया जा सकता है, यथा विकास के 'पचास के दशक एवं 'साठ के दशक मध्य वाले नेहरू– महालैनोबिज मॉडल द्वारा पहचानप्राप्त राज्य के प्रभुत्व अथवा स्वायत्तता वाले युग और 'साठ के दशकांत एवं अस्सी के दशक के बीच का दौर। स्वतंत्रता– पश्चात् प्रथम दो दशकों के दौरान राज्य को स्वातंत्र्योत्तर विकास प्रतिमान में एक प्रमुख स्थान दिया गया। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ जो उस समय विद्यमान थीं, ने ही राज्य को ऐसी स्थिति से समझौता करने को मजबूर कर दिया। देश का भारत और पाकिस्तान में विभाजन, तदोपरांत साम्प्रदायिक दंगे, विभाजन–उपरांत शरणार्थियों का अंतर्वाह, भारतीय संघ में 565 राज्यी राज्यों का विलय, विश्व का दो वैचारिक रूप से भिन्न गुटों में बँट जाना– अमेरिका और रूस, जिन्हें शीतयुद्ध में लिप्त माना जाता था, आदि ही वो परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने राष्ट्रीय नेतृत्व को प्रेरित किया कि ऐसा विकास

प्रतिमान अपनाया जाए कि जिसमे राज्य को एक प्रमुख स्थान मिले। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और विकास अर्थशास्त्री पी.सी महालनोबिस की पहलकारी पर आधारित यह प्रतिमान जो राज्य को प्रमुखता देता था, विकास का नेहरू–महालैनोबिस मॉडल कहलाया। इसने विविध क्षेत्रीय, आर्थिक, सांस्कृतिक व धार्मिक समूहों की एकता को दर्शाते हुए भारत को एक सशक्त ''राष्ट्र राज्य'' बनाने का प्रयास किया। बाजार से अपेक्षा की गई कि अपने अस्तित्व के लिए वह राज्य पर निर्भर करेंय उसे नियम–पाबंदियों के अधीन होना पड़ा और लाइसेंसों के माध्यम से राज्य की अनुमति अनिवार्य हो गई। इसने राज्य संस्थाओं को प्रमुखता दी, विशेष रूप से अधिकारी वर्गः अर्थात दतरशाही को, जिसको 'स्थायी सरकार' अथवा 'स्टील फ्रेम', राज्य नियोजन, मिश्रित अर्थव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में गुट निरपेक्षता आदि रूपों में जाना गया। इस मॉडल ने कल्पना की कि वह देश के समग्र विकास की और ले जाएगा, सामाजिक मतभेदों जाति, धर्म, भाषा, प्रजाति, क्षेत्र, और आर्थिक विषमता पर आधारित भेदभाव और पदानुक्रम को समाप्त करेगा (आर्थिक विकास का संवर्धन करेगा, गरीबी हटायेगा, आदि)। समष्टि अर्थशास्त्र में इसने कृषि अथवा ग्रामीण क्षेत्र की बजाय उद्योग को प्राथमिकता दी। तथापि, राज्य ने अनेक ऐसे कदम उठाये जिन्होंने विभिन्न वर्गों एवं समूहों को प्रभावित किया; इन समूहों ने आने वाले दशकों में सामूहिक कार्रवाइयों में भाग लिया। विभिन्न राज्यों में सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सुधार जमींदारी प्रथा का उन्मूलन और किसानोंध्हरवाहों को जमीन का मालिक बनाना, कृषि विस्तार योजनाएँ, सामुदायिक विकास कार्यक्रम आदि अनेक कल्याणकारी कदम उठाये गए। यद्यपि ये योजनाएँ पूरी तरह सफल नहीं रहीं, उन्होंने विभिन्न रूप से उनकी दशाओं को सुधारा जरूर। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में राज्य का सबसे

सशक्त और प्रभावशाली हस्तक्षेप साठ के दशक में देश के चुनिंदा क्षेत्रों में हरित क्रांति, एच बाई.वी. (जों की उच्च उत्पादन किस्में), उर्वरकों व निवेशों, बीजों, मशीनीकरण आदि के माध्यम से रहा।

'साठ के दशकांत से लेकर 'अस्सी के दशक की अवधि में सरकारी तंत्र निःसंस्थानीकरण (Deinstitutionalisation) तथा वैयक्तिकरण का (Persoonalisation) देखा गया, विशेषतः इंदिरा गांधी के शासनकाल में कुछ रूकावट के साथ यह दौर 'अस्सी के दशक तक चला। इसमें शामिल रहे– आपातकाल की अवधि, केन्द्र में चार से भी अधिक वर्षों तक विभिन्न

गैर–कांग्रेसी राजनीतिक संगठनों द्वारा शासन, यथा– जनता पार्टी, जनता दल सरकार और चरण सिंह व चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली सरकारें। राज्य संस्था का पतन जो इंदिरा गाँधी के शासन काल में शुरू हुआ बाद के शासन कालों में भी जारी रहा।

'नब्बे के दशक से उदारीकरण के दौर में, राज्य प्राधिकार में गिरावट देखी गई जो कि 1991 में नरसिम्हा राव संरकार द्वारा शुरू किए गए सैप (संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम SAP) के लागू होने के बाद आयी। इस दौर की पहचान रही– बाजार शक्तियों, नागरिक समाज संगठनों का समांतर उदय जिन्होंने राज्य के एकाधिकार को क्षति पहुँचाई है।

भारतीय राज्य पर चर्चा

भारतीय राज्य उसकी प्रकृति, स्वायत्तता एवं क्षमता के विश्लेषणार्थ दो दृष्टिकोण अपनाए गए हैं। ये हैं मार्क्सवादी और गैर– मार्क्सवादी। परवर्ती को फिर से उपविभाजित किया जा सकता है, यथा विकास/आधुनिकीकरण/व्यवस्थित और नवउदारवादी पहलू। मार्क्सवादी पहलू शिक्षाशास्त्रियों और विभिन्न साम्यवादी दलो द्वारा अपनाया जाता है। गैर मार्क्सवादी पहलू में आते है– विकासवादी/आधुनिकतावादी/व्यवहारवादी, यथा रजनी कोठारी व मारिस जॉन्स, एल आई रूडोल्फ व एस.एच. रूडोल्फ, तथा नव–उदारवादी यथा पी एन. भवगती, श्रीनिवासन, पदमा देसाई, वी. के रामास्वामी व बी आर शिनॉय। विकासवादी शिक्षाशास्त्री राज्य के स्थान पर राजनीतिक व्यवस्था शब्द प्रयोग करते हैं। वैसे अपनी बाद की पुस्तकों में रजनी कोठारी ने राज्य का ही प्रयोग किया, न कि राजनीतिक व्यवस्था का। जबकि मार्क्सवादी भारतीय राज्य को एक धनी वर्गों यथा जमींदार वर्ग, बुर्जुवा वर्ग/सामन्ती वर्ग एवं विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रतिनिधि मानते हैं, नव–उदारवादी जन इसे अक्षम पाते हैं। मार्क्सवादियों का जोर इसके वर्ग अभिलक्षण को समझने पर हैं, नव–उदारवादी जन इसे अक्षम पाते हैं। मार्क्सवादियों का जोर इसके वर्ग अभिलक्षण को समझने पर है। नव–उदारवादी राज्य को अक्षम/नौकरशाही परस्त/शासनोन्मुखी पाते हैं जो पूर्व–1991 चरण (वर्तमान उदारीकरण का दौर) में विकास और प्रगति के लिए अहितकर रहा। भारतीय राज्य संबंधी उनकी आलोचना उसके दो अभिलक्षणों पर ध्यान केन्द्रित करती है विकास नियोजन एवं राज्य हस्तक्षेप। राज्य के नव–उदारवादी आलोचकों के अनुसार,

भरतीय राज्य स्वातंत्र्योत्तर काल में अपने अस्तित्व के रहते न तो विकास लाने में समर्थ रहा है और न ही गरीबी हटाने में। पूर्व उदारीकरण अवस्था (पूर्व–1991) को भगवती जैसे नव–उदारवादी द्वारा धीमी विकास दर व प्रतिव्यक्ति आय' के रूप में देखा गया और भारत की अपनी 'निजी आकांक्षाओं के संबंध में उसके 'कमजोर कार्यनिष्पादन' के रूप में। नव–उदारवादियों ने भारत के कार्यनिष्पादन को पूर्व एशियाई देशों के कार्यनिष्पादन के मुकाबले निकृष्ट आंका। उनका कहना है कि भारत का कार्यनिष्पादन पूर्व चरण के मुकाबले उदारीकरण–उपरांत काल में सुधरा। ऐसा एक तो उस सुरपान, भूमिका के कारण हुआ है जो कि बाजार निभाने आया है, दूसरे राज्य के प्रभुत्व में कमी के कारण। तथापि, उनमें से कुछ का मानना है कि राज्य हस्तक्षेप परंपरागत कृषि के कायापलट में सफल रहा है। परन्तु 'साठ व सत्तर के दशकों में भारतीय उद्योग में स्थिरता रही। मार्क्सवादी विद्वान नियोजन, राज्य हस्तक्षेप और पूर्व–उदारीकरण काल में राज्य के निराशाजनक कार्यनिष्पादन संबंधी नव–उदारवादी आलोचना को विश्वासोत्पादक नहीं मानते हैं। वे नंव–उदारवादियों के तर्कों का हर दृष्टिकोण से खण्डन करते हैं। मार्क्सवादी पहलू के प्रतिनिधि हैं– टी.जे. बायर्स, प्रभात पटनायक तथा अमिय कुमार बागची। दीपक नय्यर का कहना है कि भगवती जैसे नवोदारवादियों के तर्क के विपरीत, उदारवादी चरण से पूर्व, यानी 'सत्तर के दशकोत्तर और 'अस्सी के दशक में उद्योग का पुनरूथान हुआ। मार्क्सवादी, तथापि, नियोजित अर्थव्यवस्था और नेहरू–महालैनोबिस मॉडल की आलोचना करने के लिए अपने ही तर्क देते हैं। नव–उदारवादियों से भिन्न, वे नियोजन और राज्य हस्तक्षेप के योगदान को अनदेखा नहीं करते; वे नियोजन और हस्तक्षेपवादी राज्य को पूर्ण रूप से खारिज नहीं करते जो कि ''एक अप्रशमित आर्थिक विपत्ति'' ("An unmitigated

economic disaster") के लिए जिम्मेदार है। उदारीकरण गरीबी को कम नहीं कर पाया है; बल्कि उसने इसे बढ़ाया ही है। टी.जे. बायर्स, नवोदारवादियों से भिन्न जो पूर्व–1991 युग में जनसाधारण की आर्थिक दशाओं में कोई सुधार नहीं पाते, कहते हैं कि एक ऐसा भी काल था जिसमें आर्थिक विकास और गरीबी की घटनाएँ देखी गईं, यथा 'सत्तर का दशक–मध्य और अस्सी का दशक। उदारीकरण के दौर में विकास नियोजन को उनके द्वारा अब भी प्रासंगिक माना जाता है। तथापि स्थूल रूप से गैर मार्क्सवादी पहले अपनाते हुए एल आई रूडोल्फ और एसएच रूडोल्फ अपनी पुस्तक इन परस्यूट ऑफ लक्ष्मीः द पॅलिटिकल इकॉन्मी ऑफ दि इण्डियन स्टेट में भारतीय राज्य को भारतीय राजनीति के संदर्भ में दर्शाते हैं। उनका तर्क है कि भारत में राजनीति कोई वर्ग–राजनीति (Class Politics) नहीं हैय यह केन्द्रवादी राजनीति (Centrist Politics) है। राज्य निजी पूँजी और संगठित क्षेत्र के बीच तीसरे कारक के रूप में स्वीकृत किया जाता है। चूँकि संगठित श्रमिक असंगठित श्रमिकों की तुलना में श्रमिक जनसंख्या का बहुत छोटा अनुपात ही बनाते हैं भारत में वर्ग–राजनीति का अभाव है। यही केन्द्रवादी राजनीति है। एक तीसर कारक के रूप में, राज्य श्रमिक और पूँजी के बीच एक स्वायत्त निकाय के रूप में समझौता करता है। रूडोल्फ–रूडोल्फ यह भी दर्शाते हैं कि भारतीय राज्य ने ''समाजवादी राज्य'' के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र और राज्य नियोजन के अनुशीलन में ''समाजवाद'' का आह्वान किया। बायर्स इसे ''खोखला राजनीतिक शब्दाडम्बर'' की संज्ञा देते हैं। रूडोल्फ–रूडोल्फ के अनुसार, राज्य दो प्रकार

की राजनीति से जुड़ा है– माँग राजनीति (Demand Politics) और आदेश राजनीति (Command Politics)। पूर्ववर्ती में, माँग समूहों को नेतृत्व, विचारधारा और सामूहिक कल्याण की अभिव्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है ताकि वे सामूहिक कार्यवाई में भाग ले सकें। यही सामूहिक कार्यवाईयाँ सामाजिक आन्दोलन कहलाता हैं। दूसरी ओर, आदेश राजनीति में, राज्य एक तीसरे कारण के रूप में ''न सिर्फ व्यवस्था, न्याय व सुरक्षा प्रदान करता है, सामाजिक हित और लाभों में वृद्धि करता है, और सामाजिक व्यय घटाता व हटाता है, अपितु नानाविध कूटनीतिक अखाड़ों एवं ऐतिहासिक प्रसंगों में स्वयं–निर्धारक बनाने के लिए यथेष्ठ संसाधनों को सीधे–सीधे प्रयोग करने की स्थिति में भी होता है।

उन विद्वानों ने जिन्होंने विकास/आधुनिकीकरण दृष्टिकोण अपनाया, विभिन्न देशों, खासकर औपनिवेशीकृत/विकासशील/तीसरी दुनिया के देशों की राज्य–व्यवस्था के अध्ययनार्थ राज्य की अवधारणा का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने विद्यमान व्यवस्था की संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास किया। इन विद्वानों का मुख्य तर्क यह था कि राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न घटक एक दूसरे के साथ संघर्ष एवं समंजन करते हैं और इस प्रक्रिया में उक्त व्यवस्था लचीली बनी रहती है और स्वयं को कायम रखती है। राजनीतिक अभिजात्यों को राजनीति में परिसीमित करने और तदनुसार आम जनता की उपेक्षा करने के लिए इस प्रकार की आलोचना की गई है। इसके अलावा, इसने राजनीति को उसकी ऐतिहासिक विरासत और साम्राज्यवादी ताकतों से जोड़ने के प्रयास नहीं किए। तथापित, 'सत्तर के दशक तक, थेडा स्कोक्पोल 'की प्रिंगिंग द स्टेट बैंक इन के साथ ही राज्य के अध्ययन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। यहाँ तक कि रजनी कोठारी ने भी अपनी बाद की पुस्तकों में 'राज्य' का प्रयोग किया, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है– स्टेट अगेन्स्ट द पीपॅल ।

बाजार की बदलती स्थिति

पूर्व–उदारीकरण दौर में राज्य के मुकाबले नीति प्रतिपादन में बाजार को दूसरा दर्जा दिया गया था। बाजार को न सिर्फ निकासी (Clearance), लाइसेंस अथवा इंस्पेक्टर राज में अपना काम करने के लिए राज्य नेतृत्व व अधिकार वर्ग पर निर्भर करना पड़ता था, बल्कि समाज के विभिन्न दर्गा के लिए उठाये जाने वाले कदमों में भी उसकी कोई अहम भूमिका नहीं होती थी। इसके अलावा, बाजार को भ्रष्टाचार पारदर्शिता का अभाव, लालफीताशाही, आदि का सामना करना पड़ता था। इनको आम तौर पर राज्य की विफलता माना जाता था। इसने लोकतंत्रीकरण, प्रशासन और विकास

की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका को प्रमुखता दी। विकास और लोकतंत्र लाने के लिए एक अभिकर्ता के रूप में राज्य के किसी विकल्प हेतु खोज शुरू हो गई। विद्वानों य राजनीतिज्ञों के वर्ग का तर्क है कि राज्य का विकल्प बाजार में तलाशा जा सकता था। परन्तु इसके साथ ही, विकल्प रूप में बाजार को लाने का तीखा विरोध भी हुआ।

पूरी दुनिया में यह एक आम प्रवृत्ति थी। नव–उदारवादी विचारधारा को लेकर और विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आदि संस्थाओं के माध्यम से पश्चिमी देशों ने अग्रणी भूमिका निभाई। इसका प्रयोजन इन विचारों को फैलाने के लिए था कि तीसरी दुनिया की समस्याओं का समाधान मिल जाएगा यदि राज्य इन देशों में ''पीछे सिकुड़ जाए'' या अपने आपको ''रॉल बैक'' कर ले। अथवा अल्पतम राज्य बन जाये और यहाँ संरचनात्मक सुधार भी लागू हो जाएँ। इनमें बाजार को बढ़ावा दिया गया जो कि आर्थिक सुधार कार्यक्रम से जुड़ा है, जिसे लोकप्रिय रूप से भूमण्डलीकरण अथवा संरचनात्मक सामंजस्य कार्यक्रम कहा जाता है। यह तीसरी दुनिया के देशों के लिए उपयुक्त रहा है। ये देश सभी पहलुओं में विशाल समस्याओं से घिरे रहे हैं और ''शासन संकट'' यथा हिंसा, भ्रष्टाचार, पादर्शिता का अभाव, और वित्तीय अस्थिरता एवं असुरक्षा। भारत के उदाहरण में, 'अस्सी के दशक तक वित्तीय समस्या, मुख्य रूप से भुगतान–शेष, बहुत विकट हो गयी थी। इसका समाधान अन्तर्राष्ट्रीय दाता एजेन्सियों से ऋण लिए जाने में खोजा जाना था। परन्तु वे उधार तभी दे सकते थे जब उनकी शर्ते मान ली जातीं। इस शर्तबद्धता के ही परिणामस्वरूप भारत सरकार को संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम लागू करना पड़ा जिसको नाम दिया गया– उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण ।

भारत में भूमण्डलीकरण अथवा बाजार को प्रोत्साहन का वर्तमान दौर 1991 में पी.वी. नरसिम्हा राव के नेतृत्व वाली सरकार द्वारा शुरू किया गया। बाजार को बढ़ावा दिए जाने, यथा भूमण्डलीकरण के विरोध के बावजूद भारत में केन्द्र के साथ–साथ विभिन्न राज्य सरकारें भी भूमण्डलीकरण अपना ही रही हैं। कुछ विद्वानों का बहरहाल, तर्क है कि भूमण्डलीकरण अपने वर्तमान दौर से कहीं पहले शुरू हो चुका था, यह कोई नई दृश्यघटना नहीं है। यदि 1991 में भारत में दाता एजेन्सियों द्वारा अपनी शर्तों के तहत संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम के माध्यम से बाजार को बढ़ावा दिए जाने का तत्काल कारण भुगतान–शेष संकट ही था, तो उप–सहाराई अफ्रीका के मामले में यह कारण 1989 में ''शासन–संकट'' था। यह इंगित किया गया पारदर्शिता, उत्तरप्रदता के अभाव द्वारा; राज्य की अक्षमता और भ्रष्टाचार द्वारा।

संरचनात्मक सुधार एक अर्थ में बाजार दूसरा नाम बन गया। इसके संकेतक थेः देश के भीतर और बाहर शुल्क व गैर–शुल्क को बंद करनाय मुक्त अर्थव्यवस्था/व्यापार क्षेत्रों का निर्माण, लाइसेन्स प्रणाली अथवा इन्सपेक्टर राज को. खत्म करनाय निजी पूँजी को प्रोत्साहित करना और राज्यीय/सरकारी पूँजी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र इकाइयों को हतोत्साहित करना (विनिवेश); विदेशी पूँजी अथवा बहु–राष्ट्रीय कम्पनियों को भारत में निवेश करने और अपना व्यापार कार्य यहाँ शुरू करने की अनुमति देना (अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में विदशी सीधा निवेश अर्थात् एफ डी आई की अनुमति देना)। बाजार को कल्याणकारी क्षेत्रों में भी प्राथमिकता दी जाती है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य और आधारभूत होचा तैयार करना, आदि। जबकि कुछ विद्वान बाजार हेतु प्रबल भूमिका के पक्ष में तर्क देते हैं, अन्य का कहना है कि बाजार को राज्य व नागरिक समाज संगठनों के साथ सहयोग में भी काम करना पड़ता है। बाजार शक्तियों के समर्थकों के बीच मतभेदों के बावजूद वे सभी बाजार को प्रमुख स्थान देने हेतु साझा रूप से आम समझ रखते हैं। बाजार को द्वितीय हरित क्रांति का हिस्सा माना जाता है– कृषि का निगमीकरण, अनुबंध खेती, कृषि का विविधीकरण, फसल पैटर्न को बदलना ताकि अधिक लाभकारी फसलें पैदा हों/एक–फसल खेती, आदि। सेवा क्षेत्र में बाजार का प्रभाव उन नीतियां मे देखा जा सकता है जो कि सरकारी संस्थाओं में नौकरियों की संख्या घटाने, स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति योजनाओं तथा अनुबंधात्मक रोजगार, आदि विषयक हैं।

राज्य की सफलता, विफलता एवं प्रकृति के मामले की ही तरह, बाजार की प्रतिक्रिया को भी विभाजित किया जा सकता है। यदि कुछ लोग बाजार शक्तियों के समर्थक हैं तो उसके कुछ विरोधी भी हैं। परवर्ती में शामिल हैं– वामपंथी बुद्धिजीवी वर्ग एवं संगठन, स्वदेशी (विदेशी बाजार के विरोध में), और दलित प्रवक्ताओं का वर्ग, पर्यावरणवादियों का एक वर्ग, आदि (जैसा कि आप विभिन्न इकाईयों में पढ़ेंगे)।

नए प्रसंग में राज्य और बाजार

राज्य और बाजार की स्थितियों में परिवर्तन एक नए प्रसंग में आये हैं। इस प्रसंग के अभिलक्षण हैं ; 'अस्सी के दशक में शीत युद्ध में कमी और समाजवादी गुट का विघटन तथा नागरिक समाज संगठनों, बुद्धिजीविया गैर–सरकारी संगठनों व स्वैच्छिक संगठनों का उदय। यह घटनाक्रम समाज के कल्याणार्थ कार्यवाही के प्रमुख अभिकरण के रूप में राज्य के एकाधिकार को क्षति पहुँचाने में परिणत हुआ। बाजार से परे, नागरिक समाज के लिहाज से इन नए अभिकररणों को जनता के कल्याणार्थ संभावित अभिकरणों के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। जबकि समाज की क्षमता विषयक प्रश्नों कि क्या एक अभिकरण दूसरे के मुकाबले अधिक महत्त्वपूर्ण है, पर बहस जारी है, नागरिक समाज संगठनों का महत्त्व दुनिया भर में बहुत अधिक हो गया है। ये प्रश्न कि क्या गैर–सरकारी संगठन अकेले ही लोगों का कल्याण कर सकते है अथवा एक दूसरे के साथ सहयोग में ही वे ऐसा कर सकते हैं. उठाये जा रहे हैं।

नागरिक समाज के बढ़ते महत्त्व के साथ–साथ राज्य व बाजार, स्वतंत्र रूप से अथवा एक–दूसरे के साथ काम करते हुए, शैक्षिक चर्चा एवं राजनीतिक कार्रवाइयों के मुख्य ध्यानाकर्षक केन्द्र बन गए हैं। नागरिक समाज के साथ–साथ सामाजिक पूँजी (सोसियल केपिटल) जैसी अवधारणाएँ भी शैक्षिक चर्चा में खास स्थान रखने लगी हैं। रॉबर्ट पटनम द्वारा इटली की नगर परंपराओं का अध्ययन करते हुए लोकप्रिय बनायी गयी सामाजिक पूँजी को माना जाता है कि इसमें संचारतंत्र, आस्था और उन समूहों के सदस्यों के बीच सांझा मूल्य आते हैं जो सामाजिक पूँजी रखते हैं। चूँकि सामाजिक आन्दोलन सामूहिक कार्रवाईयाँ हैं– संगठन, नेतृत्व, विचारधारा, संघटनों की नीतियाँ व रणनीतियाँ, संघ आदि सामाजिक आन्दोलनों के प्रमुख भाग बन गए हैं। तथापि, नागरिक समाज सगठन व सामाजिक पूँजी की अवधारणा चुनौतियों से अछूते रही रहे हैं। जॉन हेरिस का तर्क है कि सामाजिक पूंजी विकास काक अराजनीतिकृत करती है। नागरिक समाज की विमानता, सामाजिक पूंजी और सामाजिक आंदोलनों को समसामयिक बातचीत के एक हिस्से में लोकतंत्र के अस्तित्व का संकेतक माना जाता है।

निष्कर्ष

भारतीय राज्य को लेकर जितनी असहमति देखने को मिलती है, उतनी ही शायद किसी और राजनीतिक अवधारणा के संदर्भ में दिखाई देती है। और राज्य को लेकर सबसे अधिक असहमति उसकी प्रकृति को लेकर है। पर ये समझना भी आवश्यक है, कि यह असहमति से प्रभावशाली विषय रहा है। जो मुख्यतः राज्य समाज और व्यक्ति तीनों के बीच संबंध को बताने या दर्शाने का प्रयास करता रहता है पर यहाँ पर अतिवादियों को छोड़कर अधिकतर राजनीतिक विचारकों ने राज्य को एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में देखा है। जिसमें वह राज्य को एक आवश्यक संस्था के रूप में परिभाषित करने की कोशिश करते हैं पर फिर भ्झी ये सारे विचारक राज्य की निभाई जाने वाली भूमिका को लेकर काफी गहरेमतभेद की रखते हैं। उदाहरण के तौर पर जैसा कि उदारवादियों ने तर्क दिया कि व्यक्ति को अपनी न्यूनतम भूमिका तक ही सीमित होना चाहिए। जिसमें दो केवल कुछ ऐसे सिमित कार्य करें जिससे की लोगों की आजादी बनी रहे।

और हम देखते हैं, कि इस प्रकार के उदारवादी राज्य 19वीं शताब्दी तक काफी आम थे। क्योंकि राज्य के Apparatus पुलिस, न्यायतंत्र, सेना और शांति सुरक्षा बनाए रखने तक ही सीमित दिखाई देते थे पर जब 20वीं शताब्दी आई जिसमें प्रथम विश्वयुद्ध, द्वितीय विश्वयुद्ध और शीतयुद्ध जैसी घटनायें घटी और नये राज्यों का उद्भव हुआ जो अपने आपमें अन्य भिन्न परिस्थतियों को समेटे हुए था और इसको केवल एक ही विचार से परिभाषित करना काफी कठिन था क्योंकि इनके समाज व संस्कृति और मुल्य काफी भिन्न थे और इसी प्रकार का उदाहरण हमारा भारतीय राज्य भी था यहाँ हम देखते हैं, कि भारत के राज्य ने भारत के समाज और संस्कृति के बीच में संतुलन बनाने का प्रयास किया और परम्परागत राज्य को आधुनिक राज्य बनाने की कोशिश करी ताकि आधुनिक राज्य बनाने की कोशिश करी ताकि आधुनिक राज्य के लिए विकास को लागू और निर्मित किया जा सके और इसमें भारतीय परम्परागत राज्य और उपनिवेशिक राज्य को मिलाकर एक नये आधुनिक राज्य का निर्माण करने का प्रयास किया गया। ताकि राज्य भारतीय समाज और संस्कृति के मध्य महत्वपूर्ण भूमिका निभा पाये इसीलिए आजादी के संघर्ष के दौरान ही, कांग्रेस ने उपनिवेशिक राज्य को एक शक्तिशाली राज्य के रूप में बदलने की मांग करी ताकि ऐसे राज्य का निर्माण हो, जो आर्थिक प्रगति को बढ़ा सके और न्यायपूर्ण समाज को ला सके और जिसमें गरीबी हटाने की क्षमता भी है और इस प्रकार भारतीय राज्य को काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी जैसा कि अगर हम ऑस्टिन को समझने की कोशिश करे तो पता चलता है, कि जब 1947 में भारतीय संवैधनिक राज्य का उद्भव हुआ और उसमें कांग्रेस जैसी राजनैतिक दल ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और इस दल में साफ तौर पर पाश्चात्य प्रभाव देखा जा सकता था इसने राज्य को काफी केन्द्रीय भूमिका में ला दिया जिसका उद्देश्य यह था कि नये विचारों के द्वारा भारतीय सामाजिक और संस्कृति के बीच में संतुलन बनाकर आगे चलने का प्रयास किया जाये। और इसी के लिए भारतीय राज्य ने भारतीय मूल्यों और नई स्थापित की गई संस्थाओं के बीच में संतुलन बनाने की कोशिश करी जैसा कि ''आस्टिन ने बताया है, कि 1950 में संविधन को अपना लिया गया और इसने भारत को एक धर्म–निरपेक्ष और संसदिय लोकतंत्र में बदल दिया गया। जहाँ एक द्विसदनीय सदन एक बहुदलिय व्यवस्था और एक परोक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति एक स्वतंत्र न्यायपालिका और केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति व जिम्मेदारियों के आंशिक बंटवारे के लिए संघीय संरचना है।

इस प्रकार यदि हम ऑस्टिन के अनुसार बताने का प्रयास करे तो पता चलता है कि इस भारतीय राज्य का मुख्य उद्देश्य एक व्यापक न्याय समानता, और व्यक्ति की स्वतंत्रता मुख्य रूप से शामिल थी, और ये भी बताने का प्रयास

किया गया कि सारी शक्ति की जड़ें भारत की जनता में है और यहि राज्य की वैधता का प्रमुख स्रोत भी है और इसीलिए भारतीय राज्य ने जनता को कुछ मूलभूत अधिकार दिये हैं, जिसको न तो बिगाड़ा जा सकता है और न ही संसद द्वारा रद्द किया जा सकता है पर ये भी समझना जरूरी है, कि ये अधिकार निरंकुश प्रकृति के नहीं है। ये राष्ट्रीय सुरक्षा और जनकल्याण से भी जुड़े हुए हैं और इसीलिए संविधान ने मूलअधिकारों के साथ–साथ राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धांतों को भी शामिल किया ताकि लोगों का कल्याण किया जा सके और स्त्री पुरूष के बीच में कुछ मूल्यों को लागू किया जा सके जैसे समान कार्य के लिए समान वेतन आदि।

और साथ ही साथ हम देखते हैं, कि आजादी के बाद कुछ विशिष्ट लोगों ने भारतीय राज्य के लिए कुछ उद्देश्य और मूल्य और उद्देश्य निर्धारित करने का प्रयास किया जैसे– राष्ट्रीय एकीकरण आर्थिक प्रगति, सामाजिक समानता और राजनीतिक लोकतंत्र ये ऐसे कुछ उद्देश्य थे जिसे भारतीय राज्य को विशेष रूप से करने थे और इसी के लिए केन्द्रीकृत नौकरशाही को भारतीय राज्य ने जगह दी ताकि निर्धारित लक्ष्यों को पूरा यिका जा सके और इसीलिए राज्य ने कई महत्वपूर्ण कामों को स्वयं करा जैसे राज्य के अपने परमाणु, बिजलीघर बड़े बाँध, और बड़े स्टील कारखाने बनाने और इस प्रकार राज्य आर्थिक क्षेत्र में भी केन्द्रीय भूमिका निभाने लगे और सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्र में तो ये पहले ही महत्वपूर्ण था और इसलिए हमे आर्थिक क्षेत्र में भी एक मजबूत राज्य देखने को मिला जिसे Bertrand ने बताया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बड़े नेताओं ने जो माँगा उसे पाने में काफी हद तक सफल भी हुए। जिसने पूर्व सहमति, और भारतीय, क्षेत्रीय, भाषाई और जातिगत और धार्मिक भिन्नताओं का Glorification करके एक मजबूत राज्य का निर्माण किया और इस शक्तिशाली को प्रोत्साहित करने के काम ने. राज्य के लिए वैध शारीरिक हिंसा पर अपना एकाधिकार करने का रास्ता साफ किया और वहीं हम देखते हैं, कि भारत ने समाजवादी सिद्धांतों को भी बढ़ावा दिया गया ताकि जो असमानतायें भारती में थी, उसे कम किया जो सके और इस समाजवादी विचारधारा ने राज्य के नये विशिष्ट वर्ग को समाज और अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने का साधन दिया। उदाहरण के तौर पर इससे जुड़े काम निम्न थे। जैसे 1950 में योजना आयोग कि स्थापना 1951 में पंचवर्षीय योजना का आरंभ और 1952 में राष्ट्रीय विकास परिषद् आदि।

इस प्रकार यदि हम भारत में आधुनिक राज्य की अवधारणा को देखते हैं तो इसकी अवधारणा यूरोप में आधुनिक राज्य की अवधारणा से काफी भिन्न दिखाई देती है। क्योंकि जब यूरोप में आधुनिक राज्य आया तो उसकी अवधारणा काफी सीमित थी। क्योंकि वह सामाजिक निर्माण का कार्य नहीं करता था और वहीं भारत में उपनिवेशी राज्य जिसे हम आधुनिक राज्य का पहला रूप भी कह सकते हैं आया जिसने मुख्य रूप से राज्य की आधुनिक अवधारणा को कानूनी राज्य के रूप में विकसित करने का प्रयास किया पर वही इस उपनिवेशिक राज्य की स्थिति भारतीय समाज और संस्कृति के मामले में काफी अस्पष्ट थी। इसी कारण ये उपनिवेशिक राज्य जाति समाज की संरचना में सीधे तौर पर हस्तक्षेप से पचता रहा यद्यपि साथ ही उसने कानून के रूप में कुछ काम करने का प्रयास अवश्य किया यदि हम इस सदर्भ को अतुल कोहली के द्वारा समझने की कोशिश करें तो पता चलता है, कि आजादी के बाद भारतीय राज्य ने समाज से दूरी का स्थान छोड़ दिया क्योंकि भारतीय राज्य स्वयं सामाजिक सुधार के लिए वचनबद्ध था। जिसे भारतीय राज्य ने संविधान द्वारा करने का प्रयास किया और इसी संविधान ने सामाजिक सुधार से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण काम करें।

जैसे भारतीय राज्य ने काफी कड़े विधि निर्माण करें ताकि समाज के पिछड़े समुदायों की भलाई के लिए सकारात्मक भेदभाव को बढ़ावा दिया और इस प्रकार आजादी के बाद अत्यधिक हस्तक्षेप करने वाले राज्य के रूप में भारतीय आधुनिक राज्य विकसित हुआ।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि राज्य हर क्षेत्र में काफी मजबूत बनके उभरा न केवल सामाजिक राजनीतिक क्षेत्र में अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी और इन सबके लिए भारतीय आधुनिक राज्य ने उपनिवेशिक राज्य की संस्थाओं जैसे

नौकरशाही आदि का उपयोग करा और इसी वजह से भारत में प्रबंधकए राज्य की नीव रखी गई और इस प्रकार यही नौकरशाही आर्थिक क्षेत्र में इतनी विकसित हो गई जिसे हम कह सकते हैं, कि जिसने एक लाइसेंस राज्य की विशेषता को अपने में समाहित कर लिया क्योंकि उद्योगों से जुड़े अधिकतर नीतियों को यहि नौकरशाही चला रही थी। जिसने कई मामलों में इसने इस क्षेत्र को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया क्योंकि यहाँ ये आधुनिक राज्य ने केवल अर्थव्यवस्था नियंत्रण के रूप में उभरा बल्कि इसने अंतर्राष्ट्रीय उधार और पैसे के निवेश से जुड़े मामलों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा और इन सब प्रक्रियाओं में राज्य ने एक बड़े सरथागत व्यवस्थाओं को बनाया और ये बात प्रसारित करी की लोग अपनी माँगों को राज्य की इन एजेन्सियो क द्वारा ही आगे बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य ने ही कई सामाजिक वगों को जन्म दिया व इन्हीं वर्गों ने राज्यों के सामने अपनी माँगों को बढ़ाया इस प्रकार अब राज्यों के सामने कई नई माँगे भी आ रही है और इसी का विश्लेषण रूढोल्फ और रुडोल्फ डिमांग Polity और कमांड Polity के संदर्भ में करते हैं। यहाँ रूडोल्फ ने डिमांड Polity को अल्पकालिन उद्देश्यों और नीतियों के साथ जोड़ा है। वही कमांड Polity को इसके विपरित दीर्घ कालीन नीतियों के साथ जोड़ा है। इस प्रकार रूडोल्फ ने भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् चार कालों की पहचान की है। जिसने उसे दो भागों में बाँटा था। कमांड Polity 1956–66 और 1975–77 और डिमांड Polity 1966–1975 और 1977–1980 तक विभाजित किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अधिकांश उत्तर उपनिवेशिक समाज की तरह ही भारत को विरासत में ही बिगड़ी हुई राज्य व्यवस्था मिली जिसमें नौकरशाही सेना और पुलिस काफी विकसित स्वरूप में दिखाई देती है पर हमने इस नौकरशाही के विकसित स्वरूप को लोकतांत्रिक परिक्रिया के साथ मिलाकर विकसित स्वरूप को लोकतांत्रिक परिक्रिया के साथ मिलाकर विकसित करने का प्रयास किाय और इसी विकसित स्वरूप ने एक ऐसे स्टील फ्रेम को जन्म दिया जिसने अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों को नियंत्रित करके एक लाइसेंस राज्य को बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और इसने कई मामले में भारतीय राज्य के बाजार की तरफ मुड़ने कि दिशा को मजबूत किया और ये समझना भी समझना आवश्यक है। की आजादी के बाद भारतीय राज्य ने न केवल समाज और संस्कृति के बीच में सामंजस्य बनाया बल्कि बाजार की नीतियों के संदर्भ में भी भारत को दिशा देने की कोशिश की पर यहाँ यह सबसे महत्वपूर्ण बात है, कि भारतीय राज्य ने उपनिवेशिक विरासत में प्राप्त विशेषताओं को भी अपनाते हुए लोकतात्रिक प्रक्रिया द्वारा इसे बढ़ावा दिया। यही यह सबसे महत्वपूर्ण बात है, कि भारतीय राज्य ने रूपान्तरण की प्रक्रिया लोकतांत्रिक तरीके से की।

और इसी संदर्भ में यदि हम राजनीतिक प्रक्रिया को देखे तो पता चलता है, कि इसने आर्थिक व सामाजिक प्रक्रिया का प्रभावित किया क्योंकि भारतीय राजनीति एक दलिए प्रभुत्व से होते हुए बहुदलिय प्रणाली की तरफ अग्रसर हो गया है जिसमें शासन चलाने के लिए सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम (Coomon Minimum Program) एक महत्वपूर्ण नियम बनके उभरा है और इस स्थति में यह महसूस करवाया है, कि अब जरूरी हो गया है, कि बढ़ते आन्त्रिक और बाहरी दबाव को सहयोग के रूप में विकसित किया जाए ताकि विभाजित समाज होते हुए भी उसमें लोकतांत्रिक मूल्यों विभाजित समाज होते हुए भी उसमें लोकतांत्रिक मूल्यों की महत्वता बनी रहे और यहाँ पर राज्य की Consociational State की अवधारणा विकसित हुई जिसे स्परचींतज ने आगे बढ़ाया। और इसी बदलती प्रक्रिया के द्वारा हम देख सकते हैं कि भारतीय राज्य द्वारा धीरे–धीरे नव उदारवादी नीतियों के तहत भारतीय राज्य ने बाजार राज्य की विशेषताओं को समाहित करने का प्रयास किया जिसने राज्य के सहायक स्वरूप को विकसित किया और बाजार के सहायक अभिकर्ता के रूप में विकसित हुआ और वहाँ से होता हुआ अब व्यापार राज्य बनता जा रहा है। जिसमें अब न केवल राज्य प्रतिस्पर्धा के रूप में बाजार के साथ चल रहा है बल्कि कई मामलों में बाजार को निर्देशित करता हुआ भी दिखाई दे रहा है।

बाजार राज्य होने का मतलब यह नहीं है, कि राज्य पूर्ण रूप से बाजार के हाथों में चला गया है। हमें यहीं यह समझना पड़ेगा की भारतीय राज्य ने तो बाजार के साथ सामजस्य करने की कोशिश की है क्योंकि बाजार को भी भली प्रकार से काम करने के लिए कुछ मूलभूत परिस्थतियों की आवश्यकता होती है, जिसे राज्य द्वारा ही कई हद तक सुनिश्चित किया जा सकता है क्योंकि आज भ्झी हम कह सकते है, कि केवल राज्य ही बाजार की असंगतियों को नियंत्रित करके उसकी दिशा को लोगों के कल्याण की तरफ मोड़ सकती है। उदाहरण के तौर पर जब भारत ने 1991 में निजिकरण उदारीकरण और वैश्विकरण की प्रक्रिया को तेज किया था। तब उसने दो प्रमुख कार्य करे थे। ताकि भारत में विभाजित समूहों के बीच में सामंजस्य स्थापित किया जा सके जैसे एक तरफ तो हमने आर्थिक समूह के संदर्भ में उदारीकरण, नीजीकरण और वैश्विकरण की नीतियों को अपनाया और वहीं राजनीति समूह के संदर्भ के लिए पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान करने की कोशिश की जिसे आशुतोष वासनी Elite Politics और Mass Politics के संदर्भ में समझते हैं इसलिए हम कह सकते हैं, कि यद्यपि भारत का यह आधुनिक राज्य बाजार राज्य के नियम पर चलने के बावजूद भी लोककल्याण से अपनी दिशा को मजबूत किया है, क्योंकि भारत की परिस्थिति ऐसी है कि राज्य अगर मजबूती के साथ और सहयोग के साथ नहीं बना रहेगा तो बाजार अपने आप में सभी लोगों को मजबूती प्रदान नहीं कर सकता।

क्योंकि जैसा कि अमर्तसेन बताते हैं, कि ''बाजार हमेशा उन लोगों को और उन समूहों को बहिष्कृत करने की प्रकृति रखता है. जिनके पास बाजार को प्रभावित करने की क्षमता की कमी होती है इसलिए आवश्यक है, कि राज्य पूर्ण रूप से लोगों को बाजार के हवाले करने से पहले उनमें क्षमता का विकास करे ताकि वह लोग पहले उनमे क्षमता का विकास करे ताकि वह लोग मजबूती के साथ बाजार में अपनी भूमिका को निभा सके और बाजार से बहिष्कृत न हो और इसीलिए आवश्यक है कि राज्य बाजार के साथ प्रतिस्पर्धा और सहयोग दोनों करते हुए और साथ ही जहाँ कही जरूरत हो लोगों की भलाई के लिए बाजार को नियंत्रित भी करे। इसलिए हम कह सकते हैं, कि भारत जैसे समाज में राज्य की प्राथमिक आवश्यकता इसलिए भी बनी हुई है, कि लोगों को कुछ मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये। जैसेः अच्छा स्वास्थ्य, अच्छी शिक्षा और जेंडर समानता के क्षेत्र में आदि।'' इस प्रकार यदि हम प्रक्रियात्मक रूप से भारतीय राज्य की भूमिका का विश्लेषण करे तो आजादी के बाद यहाँ तक पहुँचने में भारतीय राज्य ने कई उतार–चढ़ावों का सामना करा है और फिर भी मजबूती से कुछ मूलभूत मूल्यों के साथ बना हुआ है जिसने कई मामलों में राज्य की स्थति गंभीर और विवादास्पद तो है, पर वहीं दूसरी और राज्य की विभिन्न प्रक्रियाओं के बीच नियंत्रित करने की शक्ति का आज भी महत्वपूर्ण रूप से मूल्य के रूप में बना हुआ है और इस विवादास्पद भूमिका को देखने के लिए यदि कोई भारतीय संविधान के औपचारिक ढाँचे पर प्रकाश डाले तो वो उन आधारभूत बदलावों में देख सकता है। यदि हम 1950–1990 तक के दशक को देखें तो हमें यह बंदलाव कई मामलों में साफ तौर पर दिखाई दे सकता है, उदाहरण के तौर पर दलिय व्यवस्था और योजना आयोग (जो अब जनवरी 2015 से नीति आयोग हो गया है।) का औपचारिक संविधान में कोई जिक्र भी नहीं है, पर फिर भी वो केन्द्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है और वहीं यदि हम संघीय ढांचे को देखें तो केन्द्रीकृत नेहरू राज्य की अवधारणा प्रवल रूप से दिखाई देती है और ये अवधारणा 1950 के बाद बदलती आर्थिक स्थति को भी बताता है। जिसमें विश्लेषण यह दिखाते है, कि 1990 के दशक में से एक बहुदलिय व्यवस्था आई जिसमें शक्तिशाली क्षेत्रीय दल भी शामिल है जो कि एकदलीय व्यवस्था को खत्म करते हैं और बाजार के विचारों के आधार पर चलने वाली राज्य की भूमिका का समर्थन करते है। जिसमें 1991 में आर्थिक सुधारों की शुरूआत के साथ एक केन्द्रीकृत हस्तक्षेपवादी राज्य को चुनौति देता है और विकेन्द्रीकृत नियमों पर आधारित राज्यों का समर्थन करता है पर ऐसे में भी आस्टिन कहते हैं, कि भारतीय राज्य और इसके द्वारा निर्मित किये गय संविधान के मूल्य समय की परिक्षा में सफल होकर मजबूती से खड़ा दिखाई देता है। इन्हीं के साथ ये वर्णित संविधान है। जिसमें 1950 से

अभी तक 100 से भी अधिक संवैधानिक संशोधन हो चुके हैं, इसमें से कई संशोधन राज्य की मध्यस्था की शक्ति को दर्शाते हैं और साथ ही दूसरी तरफ स्थानीय सरकार की अवधारणा को विकसित करते हैं और साथ ही कई अदालती आदेशों ने संसद की क्षमताओं पर संविधान के अनुसार आधारभूत नियमों के पालन के लिए रोक लगाई है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पारित 1985 के बाद से जनहित याचिका में राज्य की मध्यस्था करने वाले व्यवहार को कई बार समाप्त करने की भी कोशिश की है। परिणामस्वरूप समय के साथ संविधान द्वारा दिया गया केन्द्रीय संस्थाओं का संतुलन उन कर्ताओं द्वारा पुनः निर्धारित किया गया जो कि ऐतिहासिक बदलावों पर विश्वास रखते थे। यह संतुलन संसद प्रधानमंत्री और केबिनेट से निकलकर सर्वोच्च न्यायालय चुनाव आयोग और राष्ट्रपति के पास आ गया है। भारत की केन्द्रीय सरकार ने संविधान का पुनः विश्लेषण करने के लिए राष्ट्रीय आयोग को मंजूरी दी राष्ट्रीय आयोग को मंजूरी दी जो बहुत पुरानी बात नहीं है आयोग ने कई तरीके के सुझाव पारित किये जो कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायिका से जुड़े हुए हैं।

समकालीनरूप से भारतीय राज्य के समक्ष महत्वपूर्ण मुद्दे –

पिछले 50–60 वर्षों के दौरान भारत में राज्य लोकतांत्रिक बदलाव के लिए हो रहे संघर्षों को देखा और समझा है और इसी भारतीय राज्य के द्वारा ही भारतीय जनता में लोकतंत्र के प्रति काफी जागरूकता आई है और लोकतांत्रिक क्रान्ति के संदर्भ में लोगों की समझ भी काफी बढी है। चाहे वो दलित हो आदिवासी हो गरीब किसान हो या श्रमिक हो इन सभी में अब जागरूकता आ गई है और इस जागरूकता में राज्य को भी कई नए प्रश्नों से झूझने के लिए प्रभावित कर दिया है और राज्य ने इस तरीके कि स्थति से निपटने के लिए उदारीकरण, निजीकरण और वैश्विकरण की नीतियों को बपनाया है ताकि लोगों की माँगने को बाजार द्वारा पूरा किया जा सके इसी संदर्भ में हम देखते हैं कि राज्य के समक्ष नई प्रकार की चुनौतियाँ और मुद्दे खड़े हो रहे हैं क्योंकि नई शताब्दी में मुद्दे भारतीय राज्य के समक्ष होंगे वो काफी जटिल और कृत्रिम प्रकृति के होंगे। और इसको ठीक करने के लिए नए युग की जरूरतों द्वारा ही संभालना पड़ेगा क्योंकि अब इंटरनेट जैसी नई तकनीक द्वारा दी गई चुनौतियाँ सामने होंगे जिससे भारतीय राज्य को निपटना पड़ेगा और वही आज के वैश्विक माहोल में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश संबंध काफी जटिलताय मौजूद है और इन जटिलताओं से निपटने के लिए जिस प्रकार की समझ और विश्लेषण की आवश्यकता है उसकी कमी भारतीय राज्य में दिखाई देती है और सबसे बड़ी समस्या यह है कि हम भारतीय राज्य को सारी नई तकनीकि युग की समस्याओं से निपटने के लिए कह रहे हैं जबकि राज्य के उपकरण अभी भी उपनिवेशिक सरकार द्वारा प्राप्त किये गये हैं, जो आज की तकनीकि जटिलता के सामने घिसे–पिटे है और इसीलिए

यहाँ काफी महत्वपूर्ण है कि इन नई चुनौतियों से निपटने के लिए भारतीय राज्य जल्दी से महत्वपूर्ण कदम उठाय जैसेः–नौकरशाही को तकनीतिशाही में बदलना और कार्य करने की नई संस्कृति को विकसित करना काफी महत्वपूर्ण है वहीं दूसरी और यदि हम भारत की स्थति को देखें तो यह विश्व की दूसरी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है और जिस प्रकार की विभिदता भारत में है, वो शायद ही कहीं देखने को मिले और इतनी विनिदता में राज्य का काम करना काफी कठिन हो जाता है और इससे राज्य की क्षमता को भी काफी नुकसान पहुँच रहा है। हम यहाँ पर विभिन्न सिद्धांतकारों के द्वारा समझने का प्रयास कर सकते हैं, कि राज्य इस प्रकार विभिन्न मुद्दों और चुनौतियों का सामना कर रहा है जैसा कि प्रदीप खण्डवाला प्रबंधकीय राज्य का अध्ययन करते हुए बताते हैं, कि भारतीय राज्य की स्थति एक विरोधाभास पैदा करती है, जहाँ एक तरफ तो संकट में दिखाई देता है, दूसरी तरफ विश्व का सबसे प्रभावशाली राज्य भी हो जो विकास तो कर रहा है पर अपने साथ–साथ भ्रष्टाचार आदि जैसी समस्या को भी बढ़ा रहा है और इसी संदर्भ में यदि अतुल कोहली के अनुसार समझने का प्रयास करे तो पता चलता है कि विकासशील भारतीय राज्य बढ़ती

असमानता गरीबी और राजनीतिक हिंसा को कम करने में असफल रहे हैं। जिस कारण यहाँ पर राज्य की संस्थायें चाहे वह पुलिस हो या प्रशासन हो उनका सामंजस्य आम लोगों से टुटता दिखाई देता है और इसके कारण शासन में संकट की स्थति पैदा हो गई है जैसा कि कोहली ने बताया है, ''एक लोकतांत्रिक विकासशील देश सुचारू रूप से चलाया जा सकता है यदि वह निरंतर वैधता को बनाय रखे और सामाजिक आर्थिक विकास को बढ़ावा दे और इसी बढ़ती असमता ने भारत को शासन की भयंकर परेशानी में लाकर खड़ा कर दिया है और रजनी कोठारी जैसे विचारक यह मानते हैं, कि भारतीय राज्य सहभागिता के संकट से गुजर रहा हो वहीं अचिन विनायक जैसे मार्क्सवादी विचारक इस उपनिवेशवाद से जोड़ते हैं और जिसके मतभेद राजनीतिक मतभेदों के रूप में उजागर होते हैं तथा यो भारतीय आधुनिक राज्य को भी प्रभावित करते हैं और वहीं T.K उमन इसे समाज शास्त्र के दृष्टिकोण से इसे यह बताने की कोशिश करते हैं कि भारतीय राज्य धर्म के क्षेत्र में एक दोहरी नीति अपना रहे हैं भारतीय क्षेत्र में विकसित धर्म (विशेषता हिन्दु धर्म) के लिए एक सुधारवादी तंत्र की तरह हस्तक्षेप करता है और अल्पसंख्यक धर्म में एक लाभकारी एवं पीछे हटने वाली संस्था के रूप में काम कर रहा है और इसके दो उदाहरण सती रोको अधिनियम और महिला बील है पर फिर भी ये समझना जरूरी है। कि आजादी के बाद लगातार भारतीय राज्य की कार्य प्रणाली लगातार सुधरी है और लोकतांत्रिक तरीके से काम करने के संदर्भ में भारतीय राज्य में अनेक विकासशील देशों को पीछे छोड़ दिया और वहीं वैश्विक संदर्भ में भारतीय राज्य आर्थिक योजनाओं का उत्तरदायित्व लेने को तैयार है। जो कि वैश्विक व्यापार के अनुरूप हो जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण और कर सुधार और पर्यावरणीय संधिया भी शामिल है और वहीं न्यूनतम राज्य जैसे अवधारणा के बावजूद भारतीय राज्य अपने आप को पुनः स्थापित कर रहा है।

संदर्भ व अन्य लेख

एलथ्यूजर, एल, 1971, ''आइडियोलॉजी एंड आइडियोलॉजिकल स्टेट एपेरेट्स'' (Ideology of Ideological State Apparatus) इन एल, एलथ्यूसर (ई.डी). लेनिन एंड फिलोसॉफी एंड अदर एसेस (Lenin and Philosophy and Other Essays), एन एल बी, लंदन।

बैन्जामिन, आर. एंड एस. एलकिन (ई.डी), 1985, द डेमोक्रेटिक स्टेट (The Democratic State), कनसास यूनिवर्सिटी प्रेस, कनसास।

बोज, डेविड, 1997, लिबरटरेनिज्म ए प्राइमर (Libertarianism: A Primer), द फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क।

कॉरनॉए, एम, 1984, द स्टेट एण्ड पॉलिटिकल थ्योरी (The State and Political Theory), एन.जे. प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्सटन।

ऑस्टिन, ग्रानविले 1999. वर्किंग ए डेमोक्रेटिक कौन्स्ट्रीटयूशन, द इण्डियन एक्सपेरिमेन्स (Working a Democratic Constitution] the Indian Experience). ओ.यू.पी., नई दिल्ली।

ऑस्टिन, ग्रानविले, 2004 (8th एडीशन), द इण्डियन कांस्टीट्यूशन, दी कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन, (The Indian Constitution: The cornerstone of a Nation), ओ यू पी., नई दिल्ली।

बर्ट्रेण्ड, बेडी, 2000, दी इम्पोर्टेड स्टेटः द वेस्टरनाइजेशन ऑफ दी पॉलिटिकल ऑर्डर (The Imported State: The Westernisation of the Political Order), स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, स्टेनफोर्ड।

चटर्जी, पार्थ, 1997, डेवलपमेन्ट प्लानिंग एण्ड द इण्डियन स्टेट'' (Development Planning and the Indian State) इन पार्थ चटर्जी (ई.डी), स्टेट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया (State and Politics in India), ओ.यू.पी. दिल्ली।

ड्रर्क्स, निकोलस, 1997, ''द स्टडी ऑफ स्टेट एण्ड सोसायटी इन इण्डिया'' (The Study of State and Society in India) इन सुदीप्ता कविराज (ई.डी.). पॉलिटिक्स इन इण्डिया (Politics in India), ओ.यू.पी. दिल्ली।

फ्रेकेल, आर. फ्रान्किन, 1997, ''डेकलाइन ऑफ ए सोशल ऑर्डर (Decline of a Social Order) इन सुविप्ता कविराज (ई. डी), ibid.।

कविराज, एस., 1991, ''स्टेट, सोसायटी एण्ड डिस्कोर्स इन इण्डिया'' (State, Society and Discourse in India) इन जे. मेनर (ई.डी), रिथिंकिंग थर्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स (Rethinking Third World Politics), लौंगमेन, लंडन।

खंडवाला, प्रदीप एन., 1999 रिवाइटलाइजिंग द स्टेटः ए मेन्यू ऑफ आपशन्स (Revitalising the State: A Menu of Options), सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

खिलनानी, सुनील, 1997, द आइडिया ऑफ इन्डिया (The Idea of India), पेंन्गुइन, लंडन।

कोहली, अतुल, 1991, डमोक्रेसी, एण्ड डिकन्टेन्ट, इन्डियास ग्रोइङ्ग क्राइसिस ऑफ गवर्नबिलिटी (Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability), केम्ब्रिज, यू.के।

कोहली अतुल, 1997, ''क्राइसिस ऑफ गवर्लबिलिटी'' (Crisis of Governability), इन सुदिप्ता कविराज (ई.डी), op.cit.।

कोठारी, रजनी, 1989, ''कल्चरल कॉन्टेक्सट ऑफ कम्यूनिलिजम इन इण्डिया'' (Cultural ConteÛt of Communalism in India), इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, जनवरी 14।

कोठारी, रजनी, 1989, स्टेट अगेन्स्ट डेमोक्रेसी (State Against Democracy). अजन्ता, दिल्ली।

रुडोल्फ. एल. आई. एण्ड एस. एच. रुडोल्फ, 1987, इन परस्यूट ऑफ लक्ष्मी (In pursuit of Lakshmi), युनिवर्टी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

रुडोल्फ, एल.आई. एण्ड एस.एच. रुडोल्फ 1997, ''रिजीम टाइप्स एण्ड इकोनोमिक परफॉर्मेन्स'' (Regime Types and Economic Performance), इन सुदिप्ता कविराज (ई.डी), op.cit.।

सथ्यानूर्थी, टी.वी, 1999, स्टेट एण्ड सेसाइटी इन अ चेन्जींग पोलिटकल प्रेस्पेक्टिव (State and Society in a Changing Political Perspective), इन टीवी सथ्यामूर्थी (ईडी), क्लास फॉरमेशन एण्ड पोलिटिकल, ट्रांसफॉरनेशन इन पोस्ट कोलिनियल इन्डिया (Class Formation and Political Transformation in Post&colonial India), वाल्यूम 4।

सिंह, वी.बी, 1991, ''मल्टिप्लिसिटी ऑफ केन्डिडेटस इन इलेक्शनसः अ केस फॉर अपवर्ड रिविजन इन सेक्योरिटी डिपोजिटस'' (Multiplicity of Candidates in Elections: A Case for Upward Revision in Security Deposits), इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वोल्यूम 37, नम्बर 3।

स्मिथ, बी.सी. 1996, अन्डरस्टैंडिंग थर्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्सः थ्योरीस ऑफ पोलिटिकल चेन्ज एण्ड डेवलपमेंट (Understanding Third World Polities: Theories of Political Change and Development), मैकमिलन, लंडन।

निवायक, अधिन, 1990, द पेनफूल ट्रांसिशन (The Painful Transition) वर्सा, लंडन।

विठल, बी.पी आर, 1997, ''इवोल्विंग ट्रेन्डस इन ब्यूरोक्रेसी'' इन पार्था चौटर्जी (Evolving Trends in Bureaucracy), (ई. डी) op.cit.।